भाषा भारती

राजभाषा उन्नयन की वार्षिक पत्रिका

ISSN 2321 – 5704
(वर्ष-5, अंक-5, मार्च, 2018)

संरक्षक
कुलपति
प्रो. आर.पी. तिवारी

परामर्शदाता
कुलसचिव
ग्रुप कप्तान श्री विवेक दुबे (से.नि)

सम्पादक मण्डल
प्रो. ए.एन. शर्मा
डॉ. पंकज तिवारी
डॉ. ऋतु यादव
डॉ. अरविन्द कुमार
डॉ. अनुराग श्रीवास्तव
श्री आर.के. पाल

सम्पादक
डॉ. छबिल कुमार मेहेर

सहायक सम्पादक
अभिषेक सक्सेना

राजभाषा प्रकोष्ठ
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय
सागर (मध्यप्रदेश) - 470003
दूरभाष : (07582) 265828
ई-मेल : hindicell2015@gmail.com

भाषा भारती

राजभाषा उन्नयन की वार्षिक पत्रिका
ISSN 2321 – 5704
वर्ष 5, अंक 5
मार्च, 2018
यू.जी.सी. द्वारा मान्य पत्रिकाओं की सूची (Journal No. - 40712) में सम्मिलित

© *सर्वाधिकार सुरक्षित*

सम्पादकीय पत्र व्यवहार :
हिन्दी अधिकारी, राजभाषा प्रकोष्ठ
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय
सागर (म.प्र.)–470003

दूरभाष : (07582) 265828
ई-मेल : hindicell2015@gmail.com

मूल्य : निःशुल्क आन्तरिक वितरण हेतु
बाहरी व्यक्तियों के लिए 50 रूपये प्रति अंक
संस्थाओं के लिए 100 रूपये प्रति अंक

'भाषा भारती' में प्रकाशित रचनाकारों के विचार से सम्पादक मण्डल का सहमत होना आवश्यक नहीं है।

शब्द संयोजन
विनोद रजक

मुद्रण
अमन प्रकाशन
कीर्ति स्तंभ के पास, नमक मंडी, कटरा
सागर (म.प्र.) मो. 9826434225

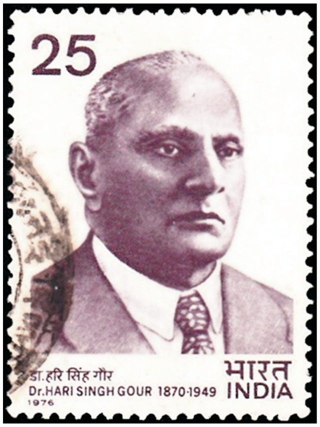
25
डा. हरि सिंह गौर
Dr. HARI SINGH GOUR 1870-1949
1976
भारत
INDIA

डॉक्टर सर हरीसिंह गौर के सम्मान में
भारत सरकार की ओर से दिनांक 26 नवम्बर, 1976
को जारी स्मारिका डाक टिकिट की छायाप्रति

प्रो. आर.पी. तिवारी
कुलपति
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर (म.प्र.)–470003

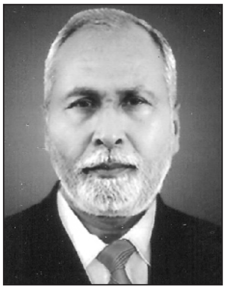

संदेश

आप सबके समक्ष 'भाषा भारती' का 5वाँ अंक प्रस्तुत करते हुए मैं आत्मीय खुशी का अनुभव कर रहा हूँ। हिन्दी वास्तव में करोड़ों करोड़ की जनभाषा है। यह घर-परिवार, खेत-खलिहान, बाजार, कारोबार, फिल्म, पत्रकारिता, साहित्य यानि जीवन के विविध पहलू में जीवंत व गतिमान है। इसके बिना सामाजिक जीवन की कल्पना ही संभव नहीं है। हमारा संविधान इसे राजभाषा का दर्जा देता है और इसे भारतीय धरोहर के रूप में परिभाषित करता है, जिसमें संस्कृति रूपी गोमुख व अन्य क्षेत्रों की भाषाओं का प्रवाह मिलता है। आज हमारे सामने एक बहुत बड़ी चुनौती राजभाषा रूपी हिन्दी और जनभाषा हिन्दी के बीच की खाई को पाटना है। भाषा जो जन में चल रही है, वही शासन प्रशासन में चलेगी, अन्यथा वह अप्रासंगिक होकर व्यवहार से कट जायेगी।

इस दिशा में हम सबको मिलकर आगे बढ़ना है। मेरा आग्रह है कि विभागों/अनुभागों के प्रमुख अपने कार्यालय में हिन्दी में कार्य का वातावरण एवं कार्य-संस्कृति विकसित करने की दिशा में एकजुट होकर प्रयास करें तथा अपने अधीनस्थों के लिए उत्प्रेरक का कार्य करें ताकि सारे विभागीय लोग हिन्दी में कार्य कर सकें।

'भाषा भारती' का प्रकाशन विश्वविद्यालय में हिन्दी कार्य-संस्कृति विकसित करने की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण प्रयास है। मैं आशा करता हूँ कि पिछले अंकों की ही भाँति यह अंक भी आपको पसंद आयेगा।

आप सभी को शुभकामनाएँ।

रा०प्र० तिवारी

मार्च, 2018

(आचार्य राघवेन्द्र प्रसाद तिवारी)

ग्रुप कप्तान विवेक दुबे (से.नि.)
कुलसचिव
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर (म.प्र.)–470003

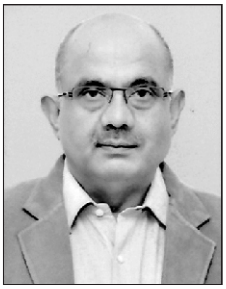

संदेश

'भाषा भारती' का पाँचवाँ अंक आप सब के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए मुझे अति हर्ष का अनुभव हो रहा है। पत्रिका के माध्यम से हमारा लक्ष्य राजभाषा का प्रसार प्रेरणा व प्रोत्साहन के माध्यम से व्यापक एवं जनोपयोगी बनाना है।

राजभाषा हिन्दी न केवल बहुसंख्यक भारतीयों की भाषा है बल्कि अन्य भारतीय भाषा समुदायों को जोड़ने वाली अनिवार्य कड़ी है जो देश के सामासिक व सामूहिक रूप को साकार करती है, अर्थ व मूल्य देती है। वास्तव में हिन्दी देश की संपर्क भाषा है और विभिन्न भाषाई तानेबाने को जोड़ने वाली कुंजी है। हिन्दी में हिन्दुस्तानी मिट्टी की नेमत है कि वह सबसे जुड़ती और जोड़ती है।

केन्द्रीय विश्वविद्यालय होने के नाते हमारा विश्वविद्यालय भी कार्यालयीन कामकाज में हिन्दी के प्रगामी प्रयोग को बढ़ावा देने हेतु कटिबद्ध है। कर्मचारियों को हिन्दी के नवाचारों से रूबरू कराने के उद्देश्य से हिन्दी कार्यशालाओं का नियमित आयोजन कराया जाता है साथ ही कार्यालयीन कामकाज में हिन्दी के उत्कृष्ट प्रयोग करने वाले तीन कार्मिकों को प्रत्येक वर्ष राजभाषा पदक एवं नकद पुरस्कार प्रदान किए जाते हैं। हिन्दी के प्रगामी प्रयोग को बढ़ावा देने की दिशा में वार्षिक गृह राजभाषा पत्रिका 'भाषा भारती' का भी नियमित प्रकाशन किया जा रहा है।

पत्रिका के सफल प्रकाशन की मंगलकामनाओं के साथ पत्रिका के प्रकाशन से जुड़े सभी अधिकारियों और कर्मचारियों को बधाई एवं शुभकामनाएँ।

विवेक दुबे.

मार्च, 2018

ग्रुप कप्तान विवेक दुबे
(से.नि.)

सम्पादकीय–

संस्कृति का अधिष्ठान है भाषा

> *''जब किसी राष्ट्र पर एक विदेशी भाषा हावी होने लगती है तो उस राष्ट्र की संस्कृति के लिए बड़ा खतरा उपस्थित हो जाता है। संस्कृति क्या है? हमारे पूर्वजों ने विचार और कर्म के क्षेत्र में जो कुछ भी श्रेष्ठ किया है, उसी धरोहर का नाम 'संस्कृति' है। यह संस्कृति अपनी भाषा के जरिए जीवित रहती है। यदि भाषा नष्ट हो जाय तो संस्कृति का कोई नामलेवा-पनिदेवा नहीं रहता। संस्कृति ने जिन आदर्शों और मूल्यों को हजारों सैलून के अनुभवों के बाद निर्मित किया है, वे विस्मृति के गर्भ में विलीन हो जाते हैं।''* – डॉ. वेदप्रताप वैदिक

1

'भाषा' अपनी विविधताओं में मनुष्य की सबसे मूल्यवान उपलब्धि है। यही 'भाषा' सामाजिक विकास, सामासिक संस्कृति, आर्थिक उन्नति, धार्मिक श्रेष्ठता आदि के सोपान तय कर सभ्यता को उत्तरोत्तर स्थापित एवं समृद्ध करती है। फिर विविधताओं से युक्त विभिन्न राज्यों, राष्ट्रों को एकता के सूत्र में पिरोने की संजीवनी भी यही है। स्वत्व की पहचान कराने में भी भाषा की अहम भूमिका है। भाषा किसी भी व्यक्ति, समाज या राष्ट्र की पहचान होती है। भाषा और संस्कृति का नाता अन्योन्याश्रित है। वास्तव में भाषा अपने आप में एक संस्कृति ही है, जिसके भीतर भावनाएँ, विचार और सदियों की जीवन-पद्धतियाँ समाहित हैं। भाषा ही परम्परा और संस्कृति से जुड़े रहने का एक मात्र साधन है। कुल मिलाकर भाषा संस्कृति का अधिष्ठान है।

संस्कृति भाषा पर टिकी हुई है। संस्कृति किसी समाज में गहराई तक व्याप्त गुणों के समग्र का नाम है, जो उस समाज के सोचने, विचारने, कार्य करने, खाने-पीने, बोलने, नृत्य, गायन, साहित्य, कला, वास्तु आदि में परिलक्षित होती है। संस्कृति का वर्तमान किसी समाज के दीर्घ काल तक अपनायी गयी पद्धतियों का परिणाम होता है। 'संस्कृति' शब्द संस्कृत भाषा की धातु 'कृ' से बना है। इस धातु से तीन शब्द बनते हैं : 'प्रकृति' (मूल स्थिति), 'संस्कृति' (परिष्कृत स्थिति) और 'विकृति' (अवनत स्थिति)। जब 'प्रकृत' या कच्चा माल परिष्कृत किया जाता है तो यह संस्कृत हो जाता है और जब यह बिगड़ जाता है तो 'विकृत' हो जाता है। 'संस्कृति' का शब्दार्थ है–उत्तम या सुधरी हुई स्थिति। अपनी संस्कृति और विकृति दोनों से परिचित होने के लिए अपनी भाषा की धारा निरंतर

बहती रहनी चाहिए। जब एक भाषा मरती है, तब उसकी संस्कृति भी उसके साथ मर जाती है। विगत में हुए अनुसंधानों से यह ज्ञात होता है कि जब हम अपनी मातृभाषा सीखते हैं, तब एक सोचने की विधि भी सीखते हैं, जो हमारे अनुभवों को ढालती है। निश्चित ही यह हमारे मस्तिष्क की कार्य विधि तथा मातृभाषा के बीच स्थित गहरे सम्बन्ध को दर्शाता है। यह भी सही है कि भाषा की ऐसी शक्ति और अभिव्यक्ति में हमारी संस्कृति चमक उठती है।

2

हमारे देश में हिन्दी को येन केन प्रकारेण जबान और चलन से गायब करने की जोरदार साजिश चल रही है और हम पूरी तरह बेखबर हैं। इसके समानान्तर अंग्रेजी को भारत की राजभाषा व राष्ट्रभाषा बना दिये जाने की पूरजोर कोशिश अनेक स्तर पर विविध आयामी तरीकों से निरन्तर की जा रही है। पर हम यह भूल जाते हैं कि विदेशी भाषा अपने ज्ञान के साथ-साथ अपने मूल्य और संस्कृति हम पर जबरन थोपती है और इसके दुष्प्रभाव समाज पर पड़ना स्वाभाविक है। बक़ौल वेदप्रताप वैदिक ''जब आप विदेशी भाषा के साथ इश्क फरमाते हैं तो वह उसकी पूरी कीमत वसूलती है। वह अपने आदर्श, अपने मूल्य आप पर थोपने लगती है। यह काम धीरे-धीरे होता है और चुपके-चुपके होता है। सौन्दर्य के उपमान बदलने लगते हैं, दुनिया को देखने की दृष्टि बदल जाती है। आदर्श और मूल्य बदल जाते हैं। आदर्श और मूल्य बदलें और तार्किक ढंग से बदलें तो मुझे कुछ आपत्ति नहीं है। विदेशी भाषा कुछ बेहतर मूल्य भी हमें दे सकती है, लेकिन आपत्ति तो तब होती है जबकि एक खंडित चिंतन का, एक दोमुँहे व्यक्तित्व का निर्माण होने लगता है। आप रहते तो हैं भारतीय परिवेश में और बौद्धिक रूप से समर्पित होते हैं, अंग्रेजी परिवेश के प्रति! ऐसा व्यक्तित्व सृजनशील नहीं बन पाता।'' सहज ढंग से जब व्यक्ति और समाज अपने अंतरंग को बलिष्ठ नहीं बनाता तो उसमें गैरज़रूरी और कुछ हद तक अमानवीय तत्त्वों का घुसना स्वाभाविक है, संस्कृति का अवमूल्यन होना स्वाभाविक है। स्पष्ट है कि सतही संस्कृति से व्यक्ति और समाज सुदृढ़ नहीं हो सकता। विगलित संस्कृति में जीवन का गतिशील होना नामुमकिन है। ऐसे में हमें आपसी मतभेदों को दरकिनार कर अपनी भाषा और संस्कृति को बचाने के लिए ठोस, सार्थक व सफल प्रयास करने होंगे।

3

'भाषा भारती' के पिछले चार अंकों को आप सभी का जो प्यार और दुलार मिला वह हमारे लिए गौरव का विषय रहा। आशा करता हूँ कि यह अंक भी आप लोगों की कसौटी पर खरा उतरेगा। पहले की भाँति यह अंक भी हमारे सम्माननीय शिक्षकों, अधिकारियों एवं कर्मचारियों में हिन्दी-प्रेम का जादू बिखरेन में सक्षम होगा। इसी उम्मीद के साथ 'भाषा भारती' के पाँचवें अंक को आप तक पहुँचाते हुए मुझे हर्ष का अनुभव हो रहा है।

'भाषा भारती' को यथाशीघ्र प्रकाशित एवं प्रसारित करवाने की दिशा में निरन्तर प्रोत्साहित एवं प्रेरित करने वाले विश्वविद्यालय के माननीय कुलपति, प्रो. आर.पी. तिवारी जी एवं कुलसचिव ग्रुप

कप्तान विवेक दुबे (से.नि.) जी को पत्रिका प्रकाशन के शुभअवसर पर मैं ससम्मान याद कर रहा हूँ। दोनों महानुभवों की सदाशयता एवं सहृदयता के प्रति 'भाषा भारती' परिवार अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता है। 'भाषा भारती' पर विश्वास कर अपने महत्त्वपूर्ण सृजन को इसमें शामिल करने की अनुमति देने वाले सभी विद्वज्जनों के प्रति भी हृदय से आभार। सम्पादक मंडल के सदस्यगण, विश्वविद्यालय के शिक्षकों, अधिकारियों एवं कर्मचारियों से जो भरपूर प्यार एवं सहयोग मिला उसके लिए तहेदिल से शुक्रिया। पत्रिका से प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से जुड़े सभी विद्वज्जनों के प्रति हम सब कृतज्ञ हैं। विश्वास है कि आगे भी उनका सहयोग हमें यूँ ही मिलता रहेगा। आप लोगों की बेबाक टिप्पणी, निष्पक्ष प्रतिक्रिया एवं महत्त्वपूर्ण सुझावों का इंतजार रहेगा। इत्यलम्।

20.03.2018

– छबिल कुमार मेहेर
सी-100, विश्वविद्यालय परिसर
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय
सागर, मध्यप्रदेश, पिन-470003

अनुक्रमणिका

कुलपति महोदय का संदेश

कुलसचिव महोदय का संदेश

सम्पादकीय – संस्कृति का अधिष्ठान है भाषा

भारत का सांस्कृतिक-साभ्यतिक विश्वबोध 15
अम्बिकादत्त शर्मा

भाषा, हिन्दी भाषा और भाषा विज्ञान के सुधी भारतीय चिन्तक : आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा 21
पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु'

भाषा, हिन्दी और हम 28
आर.बी. भण्डारकर

भारतीय भाषाओं में संस्कृत का अवदान 37
कृष्णदत्त पालीवाल

हिन्दी भाषा में पारिभाषिक शब्द 55
श्री गुलाबराय

राष्ट्रभाषा और महात्मा गांधी 61
श्रीयुत हरिभाऊ उपाध्यय

प्रसाद का साहित्य-चिन्तन 72
विजयबहादुर सिंह

मुक्तिबोध : शताब्दी-स्मृति और फैण्टेसी 82
रमेश दवे

ओड़िया से हिन्दी अनुवाद : समस्याएँ और सम्भावनाएँ 86
अजय कुमार पटनायक

साहित्यानुवाद : अनुकृति या अनुसृजन 93
छबिल कुमार मेहेर

भारत में महिला सशक्तिकरण 108
अनुपमा कौशिक

‘पृथ्वी का प्रथम स्नान’ : जीवन की वापसी का आग्रह 111
राजेन्द्र यादव

रचनात्मक चिंतन की सूफी ज़मीन 118
आशुतोष

हिन्दी में स्त्री-लेखन के मायने 124
हिमांशु यादव

निर्मला पुतुल की कवितायें : संवेदना एवं शिल्प 128
अरविन्द कुमार

वर्तमान सिनेमा : सफलता, भाषा और शीर्षक 136
पंकज तिवारी

सात कविताएँ 139
पंकज चतुर्वेदी

दो कविताएँ 141
दिनेश अत्रि

सागर से लौटते समय 143
कुमार कृष्ण

तीन कविताएँ 145
नवीन कानगो

समाचार 149
अनुराग श्रीवास्तव

उम्मीद के सहारे 150
ऋतु यादव

राज 151
राजकुमार पाल

कविताएँ 153
अशोक सैनी

ग़ज़ल 154
'अकबर' सागरी

नयी कहानी-नयी ज़िन्दगी 155
अभिषेक जैन

दो कविताएँ 156
अभिषेक सक्सेना

सर झुकाता हूँ मैं 157
विनोद स्वर्णकार ''नमकीन''

बनरा 157
महेश प्रसाद कुर्मी

राजभाषा प्रकोष्ठ : कदम दर कदम 158
विनोद रजक

●●●

भारत का सांस्कृतिक-साभ्यतिक विश्वबोध

— अम्बिकादत्त शर्मा

स्वतंत्रता पूर्व और स्वतंत्रता के पश्चात्वर्ती बहुत से विचारक जिन्होंने भारत के सांस्कृतिक-साभ्यतिक विश्वबोध को उसकी आत्मा में प्रतिष्ठ हो कर आत्मसात् किया है (स्वामी विवेकानन्द, श्री अरविन्द, महात्मा गाँधी, के.सी. भट्टाचार्य, अज्ञेय, निर्मल वर्मा, जडावलाल मेहता, यशदेव शल्य और रमेशचन्द्र शाह) उनकी दृष्टि में भारत की वास्तविक समस्या यह है कि हम 1947 ई. में राजनीतिक रूप से स्वाधीन होकर औपनिवेशिक प्राधिकरण से कदाचित् मुक्त तो हो गये लेकिन यूरोपीयकरण के अंगभूत बने ही हुए हैं। यूरोपीयकरण मानो हमारी समझ में अभ्यान्तरित हो गया है। आज भारत किसी साम्राज्यवादी सत्ता का उपनिवेश नहीं है, फिर भी वह अपनी संस्कृतात्मा पर यूरोपीय सभ्यता के उस शरीर को प्रत्यारोपित किये हुए है जिसकी आत्मा कबके उसे छोड़कर चली गई है। इस समस्या को सही तौर पर समझने के लिए औपनिवेशीकरण और यूरोपीयकरण के अर्थ और निष्पत्तियों को अलग-अलग करके समझना जरूरी है। विशेषकर भारत के सन्दर्भ में तो यह बेहद आवश्यक कार्ययोजना है। औपनिवेशीकरण एक राजनीतिक प्रक्रिया है और उसका लक्ष्य साम्राज्य-विस्तार के लिए परोक्ष-अपरोक्ष तरीकों से राजनीतिक आधिपत्य स्थापित करना होता है। परन्तु यूरोपीयकरण अपने आप में अधिक व्यापक एक सांस्कृतिक-साभ्यतिक प्रक्रिया है। आधुनिकता के मुखौटे में इसने आज एक बलीयसी विश्व-सभ्यता का रूप अख्तियार कर लिया है। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि वैसे उपनिवेश जिनकी कोई निजि सांस्कृतिक-साभ्यतिक पहचान नहीं रही हो, वे औपनिवेशीकरण से मुक्त केवल राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त कर हो सकते हैं और इस तरह राजनीतिक रूप से स्वतंत्र होकर भी वे सभी यूरोपीयकरण की साभ्यतिक प्रक्रिया के अंगमूल बने रह सकते हैं। परन्तु भारत का सन्दर्भ भी क्या ऐसा ही है। इस बात की अनदेखी नहीं की जा सकती कि भारत संस्कृति और सभ्यताओं के बहुध्रुवीय विश्व में एक छोटा-मोटा कोई देश नहीं अपितु आधा ग्लोब है। अपनी विशिष्ट संस्कृति और सभ्यता के कारण ही भारत विश्व की मान्य संस्कृतियों और सभ्यताओं के लिए सदैव हमवजन बना रहा है। अतः भारत की स्वतंत्रता का मूल्यबोध अन्य उपनिवेशों को मिली राजनीतिक स्वतंत्रता से न केवल भिन्न बल्कि व्यापक और वृहत्तर भी है। हमारा स्वतंत्रता आन्दोलन यदि दुनिया की सबसे शक्तिशाली साम्राज्यसत्ता की जड़ों को हिला देने में समर्थ हुआ, तो इसलिए कि

स्वतंत्रता का उसके लिए सिर्फ एक राजनीतिक मूल्य नहीं, अपनी संस्कृति और सभ्यता के विश्वबोध को अपने जीवन में प्रतिष्ठापित करने का आदर्श था। वह अपनी खोई हुई पहचान को फिर से हासिल करने का अलख स्वप्न था।

परन्तु उपर्युक्त परिपेक्ष्य में स्वतंत्रयोत्तर भारत के रूप-विरूप की पहचान और जाँच-पड़ताल करें तो सब कुछ, अधिकांश में मूल से भटका हुआ, निर्दिष्ट लक्ष्य का प्रतिलोम जैसा प्रतीत होता है। ऐसा लगता है जैसे अतीत के भारत का कोई स्वरूप बोध हममें था ही नहीं, जो हमारे विचार और कर्म में तदात्म रूप से बसता हो। हम यह भूल ही गये कि एक आत्मपूरित सभ्यता के लिए अपेक्षित उन सभी प्रकार की ज्ञान सम्पदाओं की दृष्टि से यह देश पहले से ही बहुत सम्पन्न गुण-सूत्रों वाला रहा है। इतिहास के लम्बे अन्तराल में अनेकों बार इसने वैजात्य प्रहारों को सहा भी लेकिन इसकी आत्मा कभी इतनी मूर्छित नहीं हुई थी जितना कि स्वतंत्रता के बाद के 70 वर्षों में हमने स्वयं इस पर आत्मघात किया है। सच पूछा जाये तो आजादी के बाद हम जिस देश-प्रेम का नारा लगाते रहे वह राजनीतिक देश था, सांस्कृतिक देश नहीं। ऐसा राजनीतिक देश जिसका सांस्कृतिक आदर्श आधुनिक यूरोप था। अतः यह प्रश्न प्रत्येक भारतीय को स्वयं से ही पूछना पड़ेगा कि आखिर हमारी समझ में इतना बड़ा बदलाव कैसे और क्यों घटित हुआ? क्यों हम अपने अतीत के स्वाभिमान से च्युत हो गये और हमारी सांस्कृतिक संस्कारशीलता कैसे छिन्न-भिन्न हो गई? यह भी कि औपनिवेशीकरण और उससे भी बढ़कर यूरोपीयकरण के कारण उत्पन्न हुए सांस्कृतिक उन्मूलन से होकर हमारी शाश्वत वापसी किस प्रकार हो सकती है? किस प्रकार हम अपनी प्रामाणिक संस्कृतात्मा का प्रत्यभिज्ञान कर उसमें आत्मप्रतिष्ठ हो सकते हैं।

यह समस्या एक भिन्न प्रकार की समस्या है। अक्सर इसका समाधान हम राजनीतिक और बाहरी तौर पर पाना चाहते हैं, जबकि यह वास्तव में समझ की त्रासदी की समस्या है और इसलिए अपनी प्रति में आन्तरिक है। कुछ समस्याएँ ऐसी होती हैं जिनका भौतिक समाधान ही सम्भव और उचित होता है, परन्तु कुछ समस्याएँ और उनका समाधान एक प्रामाणिक समझ में मूलित होती है। उदाहरण के लिए 20वीं शताब्दी के एक बहुत बड़े पश्चिमी विचारक (हायडेग्गर) ने मनुष्य पर तकनीकी के बढ़ते प्रभुत्व को मानव-सभ्यता का सबसे बड़ा खतरा मानते हैं। परन्तु इसे वे मनुष्य की कोई ऐसी नियति नहीं मानते जिससे मुक्त होना सम्भव ही नहीं। वे इस बात पर जोर देकर कहते हैं कि यह वांछित मुक्ति किसी राजनीतिक, पूंजीवादी या साम्यवादी कार्ययोजना के द्वारा सम्भव नहीं बल्कि 'प्रोजेक्ट ऑफ़ थॉट' के द्वारा सम्भव है। चूँकि तकनीकी ने हमारी सोच को ही बदल दिया है, इसलिए उस सोच को ही बदलकर हम जीवन और जगत् के उस मौलिक स्वरूप् को आत्मसात् कर सकते हैं, जो तकनीकी 'इनफ्रेमिंग' से जकड़ा हुआ न हो। क्या ठीक इसी तरह पिछले दो हजार वर्षों के दौरान विदेशी आक्रमणों, ऐतिहासिक उथल-पुथल और विशेषकर औपनिवेशीकरण तथा यूरोपीयकरण ने भारत के परम्परा बोध को धूमिल और कलुषित तथा अन्यथा नहीं कर दिया है? निश्चय ही भारत की आत्मा को एक छद्‌म आत्मा और उसकी चेतना को एक छद्‌म चेतना में रूपान्तरित कर दिया गया है। इससे उसके स्वरूप और ऐतिहासिक क्रियान्वयन की सातत्यता ही मानों छिन्न-भिन्न हो गई है। यह

भी कोई राजनीतिक समस्या अथवा राजनीतिक आधिपत्य को स्वीकार अथवा अस्वीकार कर लेने की समस्या नहीं है। यदि प्रारम्भ में इसकी शुरुआत राजनीतिक प्रक्रिया में हुई भी हो तो आज यह अवचेतन प्रकार की सांस्कृतिक दासता के तौर पर 'इण्टरनलायज्ड' हो गई है। अतः औपनिवेशीकरण और यूरोपीयकरण से भारत की मुक्ति एक समझदारी की समस्या है और इसके लक्ष्य को उस कार्ययोजना के तहत प्राप्त किया जा सकता है जिससे कि प्रामाणिक सांस्कृतिक आत्म को फिर से हासिल किया जा सके। यदि एक साभ्यतिक राजनीति की ऐतिहासिक साजिश के द्वारा भारतीय संस्कृति की आत्म-छवि और भारतीयों के भारतबोध को बदला गया है तो उस समझ को ही बदलकर हमारी सनातन वापसी हो सकती है।

अतः हम फिर से अपने विश्वसनीय सांस्कृतिक-साभ्यतिक विश्वबोध में प्रतिष्ठ हों, इसके लिए भारतीय संस्कृति और सभ्यता के उस अमृतनाभ की पहचान जरूरी है, ताकि इस रहस्य को समझा जा सके कि भारतीय सभ्यता घायल होते हुए भी यूनान और ग्रीस की तरह मृत सभ्यता नहीं है, जिसे संग्रहालयों में ही देखा जा सकता है। साथ ही साथ 'अन्तरंग अन्यों' और 'पराए अन्यों' की पहचान कर हमें कठोर आत्मालोचन की प्रक्रिया से भी गुजरना होगा, ताकि हमारा सांस्कृतिक-साभ्यतिक बोध 'आलोचक राष्ट्र' में रूपायित हो सके। अनालोचित रूप से आत्ममुग्ध बने रहना जितना आसान है उतना ही कठिन अपने स्वरूप का आलोचनात्मक प्रत्यभिज्ञान होता है। पूरब और पश्चिम की गहरी समझ रखने वाले निर्मल वर्मा के अनुसार भारतीय संस्कृति का अमृतनाभ उसका आत्मपूरित होना है और उसका लक्षण यह है कि वह 'अन्य' के सन्दर्भ में अपने को परिभाषित नहीं करता। इस लक्षण को ठोस आधार प्रदान करने के लिए भारतीय संस्कृति के कुछ ऐतिहासिक प्रवृत्तियों को देखना-समझना रोचक हो सकता है। इसमें पहला यह कि अतीत में भारत जैसा भी रहा हो लेकिन उसकी प्रसिद्धि पराये देशों में अपने प्रसार के लिए जोखिम उठाने की नहीं रही है। दूसरे शब्दों में न धर्मान्तरण की इच्छा से और न पराये देशों को जीतने की इच्छा से ही भारत ने विश्व में कभी अपनी उपस्थिति दर्ज की है। इसके बावजूद यह कम आश्चर्य की बात नहीं कि एशिया के व्यापक भूभागों पर भारतीय संस्कृति विस्तारित हो सकी, जिसे हम 'विशाल भारत' के नाम से जानते हैं। दूसरी बात यह कि भारतीयों में दूसरी संस्कृतियों को जानने की उत्सुकता इतिहास के लम्बे अन्तराल में भी दिखाई नहीं पड़ती। भारत को जानने की जिज्ञासा लेकर यहाँ यूनानी, चीनी और मुसलमान यात्री-इतिहासकार आये लेकिन भारतीय भी ऐसे ही उद्देश्यों को लेकर बाहर गये हों, इसका कोई दस्तावेजी साक्ष्य उपलब्ध नहीं है। यहाँ तक कि हिन्दुओं का मुसलमानों के साथ कोई दार्शनिक अथवा धार्मिक शास्त्रार्थ भी नहीं हुआ, जबकि वे लम्बे समय तक यहाँ अपनी धार्मिक विचारधारा से शासन करते रहे। ऐसा भी नहीं कि हिन्दू पण्डितों में खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति नहीं रहीं। बौद्धों से लगभग एक हजार वर्षों का प्रचंड वाद-विवाद इसका ज्वलंत प्रमाण है।

भारतीयों की दूसरी संस्कृतियों और धर्मों के प्रति इस चुप्पी को अन्यों के प्रति जिज्ञासा का अभाव तो नहीं कहा जा सकता। हमें यह मालुम है कि 'आनो भद्रा क्रतवो यन्तु विश्वतः' उनकी खुली

जिज्ञासा का आदर्श रहा है। वस्तुतः भारतीयों की यह प्रवृत्ति एक सांस्कृतिक मनोविज्ञान का प्रश्न है और इसके माध्यम से उनके सांस्कृतिक-साभ्यतिक चरित्र को बहुत गहरे में समझा जा सकता है। समकालीन भारतीय विचारकों में निर्मल वर्मा इसकी व्याख्या सांस्कृतिक मनोविज्ञान की कोटि में ही करते है। उनके अनुसार (भारतीयों का) 'अन्य' संस्कृतियों के प्रति उदासीनता के दो गम्भीर कारण रहे हैं। पहला यह कि भारतीयों ने पहले ही एक ऐसी सभ्यता विकसित कर ली थी जो आत्मनिर्भर और आत्मपूरित थी। वह जीवन और जगत् की तमाम जरूरतों और जिज्ञासाओं का समाधान करने में सक्षम थी। दूसरा यह कि भारतीयों के लिए अपनी अस्मिता को परिभाषित करने का सन्दर्भ कभी 'अन्य' रहा ही नहीं जैसा कि यूरोप के लिए यह सदैव रहा है। चाहे तत्त्वमीमांसीय आत्मा हो या संस्कृतात्मा, दोनों ही हमेशा 'आत्म-सन्दर्भी' रूप में ही स्वीकार किये गये हैं। यूरोपीयों के लिए चेतना का मौलिक स्वरूप ही 'परा-सन्दर्भी' है। पर के सन्दर्भ के बिना वह कुछ नहीं है। अतः सांस्कृतिक धरातल पर भी 'अन्य' उनके लिए हमेशा अपने से अलग, बाहर की वस्तु ही है, जो आतंक का स्रोत और आकांक्षा की वस्तु दोनों साथ-साथ है। अतः यूरोपीयों के लिए 'अन्य' या तो अधिगृहीत किये जाने की वस्तु है या फिर नष्ट किये जाने योग्य। यूरोप के साम्राज्यवादी और धार्मिक इतिहास में 'अन्य' के प्रति ऐसा बर्ताव साफ-साफ देखा जा सकता है। देखा जाय तो यूरोपीयों के लिए 'अन्य' अपनी 'असमावेशी अन्यता' में ही जिज्ञासा का विषय बनता है, जबकि भारतीयों के लिए 'अन्य' जब तक 'अंतरंग अन्य' न हो तब तक वह एक ऐसा सम्बोधी नहीं बन सकता, जिससे अर्थपूर्ण संवाद किया जा सके। भारतीय परम्परा के लिए बौद्ध ऐसे ही 'अंतरंग अन्य' थे। परन्तु ईसाई और मुसलमान दोनों ही हिन्दु परम्परा के लिए, व्यापक धर्मान्तरण करवाने के बाद भी, असमावेशी अन्य ही बने रहे। यही कारण है कि वे आज भी भारत में संस्थाबद्ध तो हैं, लेकिन संस्कृतिबद्ध नहीं हो पाये। धर्मान्तरण तो बाबासाहेब भीमराव अम्बेडकर भी करवाये, परन्तु बौद्धधर्म के पक्ष में यह धर्मान्तरण उनका 'इण्डोसमासिस' कदम था। इसलिए नवबौद्ध भी भारतीय संस्कृति के असमावेशी अन्य नहीं बल्कि अंतरंग अन्य हैं।

यूरोपीय सभ्यता के बरक्स भारतीय संस्कृति की एक और विशेषता यह है कि भारतीय विश्वदृष्टि में मनुष्य को सृष्टि का स्वामी नहीं माना गया है। मनुष्य भी इस चराचर सृष्टि में तमाम प्राणियों के बीच एक प्राणी ही है। इसके विपरीत युरोपीय विश्व-दृष्टि में बायबिल से लेकर विज्ञान तक मनुष्य के स्वामीवादी वर्चस्व को बनाये रखा गया है। बायबिल में मनुष्य की प्रस्थिति 'मिनी ईमेज ऑफ़ गॉड' की है तो विज्ञान में वह प्रकृति का विजेता है। वस्तुतः दोनों परम्पराओं का यही वह अन्तर है, जिसके चलते भारतीय विश्व-दृष्टि चराचर से ओतप्रोत समग्रतावादी हो जाती है और यूरोपीय दृष्टि मानव-केन्द्रितता के घेरे से बाहर नहीं जा पाती। यूरोप के लिए यह किसी विडम्बना से कम नहीं कि उसके विकसित विज्ञान और तर्कणा की भाषा आजतक गैर-मानवीय संसार से समरसता स्थापित करने की भाषा पाने में असफल रही है। इसके ठीक विपरीत भारतीय जीवन-दृष्टि को इस अलगाव का सामना इसलिए नहीं करना पड़ा कि उसने गैर-मानवीय संसार से कभी अपने 'मिथिकीय' सम्बन्धों को

त्यागा नहीं। यहाँ जीवन एक रूप से दूसरे रूप में पुनर्जन्मों और कायान्तरों की अटूट शृंखला है। यहाँ हर जीव के भीतर दूसरे के रहस्योद्घाटन की कुंजी छिपी है। भारतीय दर्शन, धर्म और नीति इत्यादि में मनुष्य और प्रकृति से बीच सम्बन्धों के रहस्यों को खोलने के बहुविध प्रयास किये गये हैं। 'देवं भूत्वा देवं यजेत्' के वैदिक आदर्श से लेकर 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' के औपनिषद् आदर्श तक यही भाव गहरे में प्रतिध्वनित होता है। भागवत् पुराण में चराचर सृष्टि के अविरोध को उद्घाटित करते हुए यूँ ही नहीं कहा गया कि—अहस्तानि सहस्तानां अपदानि च चतुष्पदां, फल्गूनी तत्र महतां जीवो जीवस्य जीवनम्।

आईए भारतीय संस्कृति और सभ्यता की एक ऐसी विशेषता का विश्लेषण करें जो उसके इतिहास बोध में निहित है। चूँकि यह बहुत महत्त्वपूर्ण है इसलिए यूरोपीयों ने सेंध भी इसी विशेषता में लगायी है। भारत का ऐसा इतिहास-बोध जिसमें अतीत कोई बीती हुई याद नहीं होकर मेंहदी की तरह वर्तमान में रची-बसी रहती है। यह कोई वैसी इतिहास-दृष्टि नहीं जैसी यूरोपीयों की इतिहास-चेतना में ग्रीस की सभ्यता एक निर्जीव स्मृति मात्र है और जिसे वह या तो पुस्तकों में अथवा संग्रहालयों से ही याद कर सकता है। ऐतिहासिक स्मृतियों की ऐसी यादगारी मानवीय संवेदना के संस्पर्श से रहित ही कही जाएगी जो उसके वर्तमान की सम्बोधित नहीं करती है। परन्तु भारतीय संस्कृति की यह अद्भुत विशेषता है कि यहाँ अतीत कभी व्यतित नहीं होता बल्कि वर्तमान की प्रतीक व्यवस्थाओं में संयोजित होकर अर्थवान और संस्कार सम्पन्न बना रहता है। ऐसी ही इतिहास-दृष्टि में पूर्वजबोध माता-पिता से लेकर ईश्वर तक विस्तार पाता है। तभी तो गीता में कृष्ण पूर्वजों में अपने को अर्यमा कहते हैं। संस्कृतात्मा की उत्तरजीविता के लिए निश्चय ही ऐसी इतिहास-दृष्टि स्वागत योग्य होती है और आत्मचेतन मनुष्य के लिए यह श्रेयस्कर भी है। परन्तु वह संस्कृतात्मा अतीत की मलिनताओं से मुक्त रहे, इसके लिए एक विशेष प्रकार की आत्मालोचक आत्मचेतना अपेक्षित होती है। संस्कृति की जटिल प्रक्रिया में ऐसी आत्मचेतना न्यूनाधिक रूप से स्वाभाविक तौर पर सक्रिय रहती है। इसीलिए अतीत की बुराईयों से वर्तमान दूषित भी होता है और परिष्कार तथा प्रक्षालन की प्रक्रिया भी साथ-साथ चलती रहती है। परन्तु यूरोपीय इतिहास-दृष्टि वर्तमान और अतीत में सीधा-सीधा भेद करती है। उसमें उस सूत्रात्मा का नितान्त अभाव है जो वर्तमान को उसके अतीत से जोड़ सके। एक आधुनिक यूरोपीय के लिए अतीत मानों जड़ वस्तु है और उससे उत्तरोत्तर अपने को काटते जाना ही प्रगतिशील वर्तमान है।

भारतीय संस्कृति और सभ्यता का विश्वबोध इन्हीं गुण लक्षणों के चलते यूरोप के लिए सदैव ही विस्मयबोधक रहा है। यूरोपीय विश्व-दृष्टि का जो साँचा है उसमें वास्तविक भारत किसी भी तरह समायोजित ही नहीं हो पाता है। इस सन्दर्भ में निर्मल वर्मा की टिप्पणी बड़ी सटीक है कि ''भारतीय सभ्यता का अस्तित्व पश्चिम के लिए एक विडम्बना, एक पहेली, एक विरोधाभास ही जान पड़ता है। यदि वह यूनान और मिस्र की सभ्यता की तरह ऐतिहासिक स्मृति की अवशेष होती तो वह मृत किन्तु मूल्यवान सत्य हो सकती थी, यदि वह अफ्रीकी या लातिन अमरीकी कबीले की तरह कुछ प्रागैतिहासिक प्रथाओं की पुंज मात्र होती, तो हजारो नृतत्वशास्त्री इसकी चीरफाड़ करने यहाँ पहुँच जाते या फिर अगर वह अपने को किसी धर्म विशेष में सिकोड़ कर एक असहिष्णु सम्प्रदायगत 'राष्ट्र' में बदल देती, तो भी वह ईरान या पाकिस्तान की तरह स्वीकार्य हो सकती थी'' (-भारत और यूरोप, पृ.

14)। परन्तु कठिनाई यह है कि परम्परागत भारतीय सभ्यताबोध को न तो उस ढाँचे में ढाला जा सकता है, जिसमें वर्तमान सदैव अतीत से अपने को वियुक्त करने में फलित होता है और न ही इसे मजहब, कबीले या आधुनिक राष्ट्र-राज्य की बनी-बनाई श्रेणियों में ही संकुचित किया जा सकता है। अतः एक ओर आधुनिक यूरोप द्वारा अपने दर्पण में भारत की आत्मछवि को देखना उसकी इतिहास-दृष्टि की विवशता है, तो दूसरी ओर इस इतिहास-दृष्टि को चश्मा बनाकर भारतीय संस्कृति और सभ्यता के विश्वबोध को समझना एक सरासर बेमानी है। यही कारण है कि आधुनिक यूरोप और समाजवादी यूरोप के पैरोकारों ने भारत की तस्वीर को अपने-अपने तरीके से प्रस्तुत किया। इस तरह वास्तविक भारत दोनों की आँखों से ओझल रह गया। क्या भारत के प्रति हेगल की यह दृष्टि एक अजनबी की दृष्टि नहीं कि वे भारत को आत्मचेतना के विकास की स्वप्निल अवस्था मानते हैं और यूरोप को आत्मचेतना के शीर्ष पर रखते हैं। उसी तरह क्या भारतीय संस्कृति को सामन्तवाद की जर्जरित मरणासन्न स्थिति में देखना मार्क्स की अपनी इतिहास-दृष्टि की मजबूरी नहीं है? देखा जाए तो ऐतिहासिक दुरभिसंधि का यही वह स्थल है जहाँ से आधुनिक यूरोप और समाजवादी यूरोप की भारत को प्राधिकृत करने की अपनी-अपनी कार्ययोजना शुरू होती है। एक के लिए वास्तविक भारत सांस्कृतिक और साभ्यतिक दृष्टि से आदिम अवस्था और पिछड़ेपन का प्रतीक है जो यूरोपीय वर्तमान में अपने को ढालकर ही विकसित होने का प्रमाण-पत्र प्राप्त कर सकता है। दूसरे के लिए भारत ऐतिहासिक भौतिकवाद के जर्जरित सामन्तवादी सोपान पर साम्यवाद की प्रयोग भूमि बनने के लिए मानो अभिशप्त है। इस तरह यूरोप के दोनों धड़ों ने भारत की वास्तविक आत्मप्रतिमा पर दो भिन्न प्रकार की आत्मप्रतिमाओं को प्रत्यारोपित करने में सफल रहे जो अपनी नियति को या तो पूंजीवादी यूरोप में देख सकता है या फिर समाजवादी यूरोप में। स्वातंत्र्योत्तर भारत को इन दोनों प्रत्यारोपित आत्मछवियों और उससे निर्दिष्ट दो परस्पर विरोधी नियति के बीच दोलायमान खुली आँखों से देखा जा सकता है। अतः यदि हम वास्तविक भारत के इस वास्तविक संकट को समझते हैं, तो किसी भी भारतीय के लिए अपने प्रामाणिक सांस्कृतिक-साभ्यतिक विश्वबोध में पुनःप्रतिष्ठ होना सबसे जरूरी कार्ययोजना बन जाती है। इस कार्ययोजना को समझ की कार्ययोजना बनाकर ही क्रियान्वित किया जा सकता है। ध्यान रहे कि 'गीता' भी एक समझ की ही कार्ययोजना है। उसका लक्ष्य विषादयुक्त अर्जुन को प्रामाणिक आत्मबोध और धर्मबोध में प्रतिष्ठित कर उसकी प्रस्थिति और भूमिका को तय करना रहा है। यदि गीता की कार्ययोजना एक धर्मयुद्ध में क्रियान्वित हो सकती है, तो भारत के सांस्कृतिक-साभ्यतिक विश्वबोध की प्रामाणिक समझ भी औपनिवेशीकरण और यूरोपीयकरण से उसकी मुक्ति का मार्ग प्रशस्त कर सकती है। इस विश्वबोध को प्रामाणिक तौर पर फिर से हासिल करना ही आज समस्त भारतीयों का आधुनिक स्वधर्म है।

दर्शन विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर (म.प्र.)

भाषा, हिन्दी भाषा और भाषा विज्ञान के सुधी भारतीय चिन्तक : आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा

— पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु'

भाषा की स्वरूप-संरचना, संघटना और उसकी प्रकार्यपरकता का बोध तो सभी भाषाविज्ञानियों को होता है, पर इसके साथ-साथ उसकी अवधारणा और अस्मिता की बहुकालिक और एककालिक पहचान-परख की मर्मवेधी अन्तर्दृष्टि विरले ही भाषाविज्ञानी को प्राप्त होती है। आचार्य देवेन्द्र नाथ शर्मा ऐसे ही विरल भाषाविज्ञानी थे।

वह बहुभाषाविद् थे, अनेक भारतीय और पाश्चात्य भाषाओं पर उनका अधिकार था। वह भारतीय और पाश्चात्य भाषा-सिद्धांतों और नियमों के ज्ञाता थे। हिन्दी के अनेक भाषाविज्ञानियों की पृष्ठभूमि संस्कृत की नहीं थी। वे केवल पाश्चात्य भाषाविज्ञान के अध्येता और ज्ञाता थे। पर देवेन्द्रनाथ जी संस्कृत में निरूपित भाषा-चेतना और स्वरूपित व्याकरणिक स्थापनाओं के सम्यक् ज्ञाता और प्रबुद्ध व्याख्याता थे। उनकी दृष्टि में एक सच्चे भाषाविज्ञानी को भाषा की समझ उसकी बहुआयामिता में प्राप्त करनी चाहिए। इसी में एक आयाम भाषा के अलंकरण पक्ष का है, साहित्य की सर्जनात्मक भाषा का है। उनकी दृष्टि में ''सच तो यह है कि भाषाविज्ञान और काव्यशास्त्र एक दूसरे के पूरक हैं। भाषाविज्ञान का निरूप्य है, भाषा का निर्माण-पक्ष और काव्यशास्त्र का निकाय है, भाषा का अलंकरण-पक्ष, बिना एक के ज्ञान के दूसरे का ज्ञान अधूरा रह जाता है।'' यद्यपि शर्मा जी ने अपनी मान्यता की पुष्टि के लिए ग्रे के कथन को उद्धृत किया है— ''सच्चे साहित्य और सच्चे भाषाविज्ञान में कोई विरोध नहीं है। वास्तविक भाषाविज्ञानी कम-से-कम आधा साहित्यिक होता है और वास्तविक साहित्यिक कम-से-कम आधा भाषाविज्ञानी।'' मुझे रोमन याकोब्सन याद आते हैं, जो यह मानते थे कि भाषा जहाँ कहीं भी हो, जिस रूप में भी हो, वाचिक या लिखित साहित्य की भाषा हो— वह भाषाविज्ञान का अध्येय विषय है।

देवेन्द्रनाथ शर्मा लन्दन निकाय के प्रसिद्ध भाषाविज्ञानी जे.आर. फ़र्थ के शिष्य थे। इस दृष्टि से भी वह भाषा का अध्येय क्षेत्र उसकी बहुआयामिता में स्वीकार करते थे। फ़र्थ ने भाषाविज्ञान के अन्तर्गत ही अर्थ का विवेचन किया था और अर्थ-निरूपण में उसकी प्राथमिक और द्वितीयक जैसी कोटियाँ निर्मित की थीं। उनके द्वारा निरूपित द्वितीयक अर्थ का संबंध भाषा के अलंकरण-पक्ष से ही

है। इसके माध्यम से ही द्वितीयक अर्थ आविर्भूत होता है। आज यह संज्ञानात्मक अर्थविज्ञान का अध्येय विषय बना हुआ है। यही नहीं, फ़र्थ ने अपने अर्थ-विवेचन में 'फोनो-एस्थेटिक' (Phono-Aesthatic) जैसी अवधारणा भी निरूपित-विकसित की थी, जिसका संबंध काव्यशास्त्र में निरूपित शब्दालंकारों से बैठता है।

देवेन्द्रनाथ शर्मा व्यापक भाषाविज्ञान (Macro-Linguistics) के आचार्य थे। उनका क्षेत्र गहन भाषाविज्ञान (Micro-Linguistics) नहीं था। आज वैश्विक स्तर पर भाषाविज्ञान के जो भी विद्वान हैं, उनमें कोई ध्वनि-विज्ञानी है, तो कोई रूप-विज्ञानी, कोई वाक्य-विज्ञानी है तो कोई अर्थ-विज्ञानी, कोई समाज-भाषाविज्ञानी है, तो कोई मनो-भाषाविज्ञानी। ये सभी अलग-अलग गहन भाषाविज्ञान के क्षेत्र में कार्यरत हैं। पर शर्मा जी इनके विपरीत व्यापक भाषाविज्ञानी थे। उनका क्षेत्र यदि ऐतिहासिक-तुलनात्मक भाषाविज्ञान था, तो सामान्य भाषाविज्ञान, वर्णनात्मक भाषाविज्ञान और संरचनात्मक भाषाविज्ञान भी था। वह भारतीय भाषाविज्ञानी भी थे। उनका क्षेत्र निरुक्त, निघंटु अष्टाध्यायी और वाक्यपदीय में निरूपित भाषापरक चिन्तन भी था। यही नहीं, वह भारतीय अलंकारशास्त्र और पूरे काव्यशास्त्र पर विचार करने वाले भाषाविज्ञानी भी थे। इसीलिए उन्हें व्यापक भाषाविज्ञानी मानना समीचीन प्रतीत होता है। निल्स एरिक एंक्विस्ट ने ध्वनि से वाक्य तक की इकाइयों पर भाषा-विमर्श करने वालो को गहन भाषाविज्ञान के अन्तर्गत माना है और वाक्य से ऊपर के स्तर पर, वाक्योपरि या प्रोक्तिस्तर पर भाषा-विमर्श को व्यापक भाषाविज्ञान के अन्तर्गत माना है। इसी तरह भाषा-विमर्श के प्रत्येक क्षेत्र को समवेत रूप में भाषाविज्ञान का अध्येय बना लेना भी व्यापक भाषाविज्ञान के अन्तर्गत आता है। आर्किबाल्ड ए.हिल ने वाक्य-स्तर तक के सीमित भाषाध्ययन को भाषाविज्ञान के अन्तर्गत माना था और इससे ऊपर के स्तर, प्रोक्ति-स्तर के अध्ययन-क्षेत्र को शैलीविज्ञान मान लिया था। वह सारा विमर्श व्यापक भाषाविज्ञान के अन्तर्गत ही आता है। कहना न होगा कि यही भाषिक प्रोक्ति-स्तर काव्यशास्त्र के अध्ययन का भी अपना व्यापक क्षेत्र सिद्ध होता है। भारतीय भाषाविज्ञानियों में न तो ग्रियर्सन, न डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी, न धीरेन्द्र वर्मा, न बाबूराम सक्सेना, न मंगलदेव शास्त्री और न किशोरीदास वाजपेयी ही व्यापक भाषाविज्ञानी सिद्ध होते हैं। डॉ. भोलानाथ तिवारी लेखन की दृष्टि से तो व्यापक भाषाविज्ञानी सिद्ध हो जाते हैं, पर वैदुष्य की दृष्टि से नहीं। उनकी गति न तो संस्कृत भाषाचिन्तन में रही और न भारतीय काव्यशास्त्र में ही। अतः हिन्दी में शर्मा जी के बाद केवल डॉ. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव व्यापक भाषाविज्ञानी सिद्ध होते हैं, क्योंकि उन्होंने शुद्ध भाषाविज्ञान के क्षेत्र में गहन भाषाविज्ञानी होने के अतिरिक्त समाज-भाषाविज्ञान, द्वितीय भाषाशिक्षण और शैलीविज्ञान तथा भारतीय वक्रोक्ति सिद्धांत के विषय में अपना वैदुष्यपूर्ण चिन्तन प्रस्तुत किया है। पर उनमें भी संस्कृत व्याकरण और भाषादर्शन की वैदुष्यपूर्ण पीठिका का अभाव रहा है। आचार्य विद्यानिवास मिश्र में संस्कृत की गंभीर भाषा-चेतना, भाषा-विमर्श और व्याकरणिक—दार्शनिक वैदुष्य तथा तत्संबंधी लेखन के प्रमाण तो मिलते हैं; पर भाषाविज्ञान की पाश्चात्य परम्परा और अद्यतनता प्राप्त नहीं हो पाती है। अतः हिन्दी में केवल देवेन्द्रनाथ शर्मा व्यापक भाषाविज्ञानी सिद्ध होते हैं।

देवेन्द्रनाथ शर्मा को भारतीय भाषाचिन्तन की समृद्धि पर स्वाभिमान था। न केवल हिन्दी भाषाविज्ञान में, अपितु भारतीय भाषाविज्ञान में वह अकेले ऐसे भाषाविज्ञानी थे, जिन्होंने दो मूर्धन्य पाश्चात्य भाषाविज्ञानियों--एफ.डी. सस्यूर और नोअम् चॉम्स्की की मौलिक मानी जाने वाली अवधारणाओं को डेढ़ हजार वर्ष पूर्व निरूपित और प्रतिपादित पौरस्त्य अथवा भारतीय भाषाचिन्तन में पहले से विद्यमान सिद्ध किया। यही नहीं, उन्होंने पाश्चात्य आधुनिक भाषाचिन्तन को परम्परित भारतीय भाषाविज्ञान के सामने क्रमशः पश्चगामी और अग्रगामी के रूप में देखा। स्पष्ट कहूँ तो पाश्चात्य भाषाचिन्तन को 'पिछड़ा' भाषाचिन्तन सिद्ध किया और भारतीय भाषाचिन्तन को अधिक तर्कसम्मत और सर्वांगीण स्वीकार किया। उन्होंने सॅस्यूर द्वारा निरूपित 'लांग' और 'पेरोल' की अवधारणा को भारतीय भाषाचिन्तन के संदर्भ में जाँचने-परखने का प्रयास किया। 'लांग' भाषा का मानसिक और अनभिव्यक्त रूप है। वह मनःस्थित है, दूसरा पेरोल बाह्य-प्रकृत। शर्मा जी इसकी तुलना भारतीय, भाषाचिन्तन की परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी जैसी संकल्पनात्मक स्थितियों से, रूपों से करते हैं। वह क्रमशः बुद्धिस्थ मध्यमा' और 'करणस्थ वैखरी' को 'लांग' और 'पेरोल' की पूर्व निरूपित समकक्ष अवधारणा मानते हैं। वह पहली अवधारणा को 'अगोचर' और दूसरी अवधारणा को 'श्रुतिगोचर' बताते हैं। उनके अनुसार पहली अवधारणा में स्वसंवेदन-मात्र है, जबकि दूसरी अवधारणा स्व-पर संवेदन-सक्रिय है। इस प्रकार वह सॅस्यूर द्वारा निरूपित 'लांग' को भारतीय 'मध्यमा' और 'पेरोल' को 'वैखरी' सिद्ध कर देते हैं, जो अत्यन्त युक्तियुक्त है। देवेन्द्रनाथ जी यहीं नहीं रुकते, अपितु यह भी प्रतिपादित कर देते हैं कि ''सस्यूर 'लांग' और 'पेरोल' अर्थात् 'मध्यमा' और 'वैखरी' तक रुक गये, भारतीय मनीषा दो कोटि और पहले गयी, 'परा' और 'पश्यन्ती' तक।''

शर्मा जी ने नोअम् चॉम्स्की के द्वारा प्रतिपादित बच्चे में जन्मजात या अन्तर्जात भाषा-अर्जन युक्ति की अवधारणा की तुलना 'वाक्यपदीय' में प्रतिपादित एतत्सम्बन्धी अवधारणा के साथ की है। भर्तृहरि के अनुसार बच्चा बोलने के लिए स्वयं वागिन्द्रिय को संचालित करता है, वायु को ऊपर उत्क्षिप्त करता है तथा भाषा को उच्चरित करने के लिए निश्चिय ध्वनियों के लिए निश्चित स्थानों का स्पर्श करता है। ये क्रियाएँ तब तक संभव नहीं हैं जब तक मन में भाषा की 'अन्तर्जातता' विद्यमान न हो। इसे शर्मा जी 'भाषा-संस्कार' के रूप में निर्दिष्ट करते हैं। शर्मा जी मानते हैं कि बच्चे के सन्दर्भ में भाषा-ग्रहण की इन तीन प्रक्रियाओं का जैसा निरूपण भर्तृहरि ने आज से डेढ़ हजार वर्ष पहले कर दिया था वैसा सूक्ष्म निरूपण-विवेचन चॉम्स्की के द्वारा भी संभव नहीं हो पाया है। अन्ततः वे निष्कर्ष देते हैं कि ''भाषा-चिन्तन के क्षेत्र में'' जिन पाश्चात्य सिद्धांतों से बहुत सारे लोग अभिभूत या चकित हैं, उनमें कोई ऐसी चीज़ नहीं है। भारतीय सिद्धांतों के साथ तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाएगा कि वे बड़े सहज भाव से भारतीय चिन्तन में चर्चित हुए हैं''।

आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा बिहार सरकार की ओर से भाषाविज्ञान पढ़ने के लिए विदेश-लन्दन भेजे गये थे, जबकि भारत सरकार की छात्रवृत्ति पाकर जो लोग इस ज्ञानानुशासन के अध्ययन हेतु विदेश भेजे गये थे, उनमें पी.डी. गुणे, बी.के. जोशी, पी.एल. वैद्य, सिद्धेश्वर वर्मा, सुनीति कुमार चटर्जी आदि प्रमुख थे। पर इनमें से किसी ने भी भारतीय भाषाचिन्तन के इस समृद्ध पक्ष को पाश्चात्य और

आधुनिक भाषाचिन्तक के साथ तुलना करते हुए इसे उद्घाटित-निरूपित करने का प्रयास नहीं किया। अतः यह श्रेय एकमात्र देवेन्द्रनाथ शर्मा जी को जाता है। शर्मा जी की अंग्रेजी बहुत समृद्ध थी। उन्होंने राष्ट्रभाषा हिन्दी : समस्या और समाधान' के सन्दर्भ में अपना जो पहला आलेख 'हिन्दी में पारिभाषिक शब्दावली की समस्या' पर लिखा था, वह मूलतः अंग्रेजी में ही था और उसका वाचन बिहार विश्वविद्यालय की एक संगोष्ठी में किया गया था। पर शर्मा जी ने अपना 'भर्तृहरि और आधुनिक भाषाचिन्तन' शीर्षक आलेख अंग्रेजी में नहीं लिखा और न ही हिन्दी में लिखे जाने के बाद उसे अंग्रेजी भाषा में अनूदित ही किया। वह अंग्रेजी में इस दिशा में एक पूरी पुस्तक तैयार कर सकते थे और अन्तरराष्ट्रीय स्तर के भाषाविज्ञानी के रूप में ख्यात हो सकते थे। पर उन्होंने ऐसा नहीं किया। दिल्ली में अपने ज्येष्ठ पुत्र डॉ. विनयशील गौतम के आई.आई.टी. स्थित आवास पर उन्होंने मुझे पाश्चात्य 'संरचना' और 'संरचनावादी' चिन्तन-विवेचन के बहुत-सारे भारतीय सूत्र और तद्विषयक स्थापनाओं का उल्लेख किया था, पर वह इस विषय पर भी नहीं लिख पाये। इसका यही कारण नहीं था कि उन्हें इसके लिए अवकाश नहीं मिल पाया। जहाँ तक मैंने उन्हें जाना था उन्होंने इसे कभी अधिमानता ही नहीं दी। लेखन से अधिक उन्होंने अपने जीवन में लगातार तात्कालिक पद-प्रतिष्ठा प्राप्त करने पर अधिक ध्यान दिया और स्थायी यश-प्रतिष्ठा प्रदान करने वाले उस ज्ञानात्मक लेखन के उपेक्षा कर दी, जिसे केवल वह और वही भाषाविज्ञान के क्षेत्र में साकारिता दे सकते थे।

शर्मा जी हिन्दी भाषा के विशेषज्ञ थे। उसके स्वरूप उसकी परम्परा, उसके इतिहास, उसके विकास, उसके महत्व, उसकी समस्या, उसके समाधान, उसके साहित्य, उसकी भाषिक संस्कृति, उसके अतीत, वर्तमान और भविष्य-सबका उन्हें सम्यक् ज्ञान था। वह हिन्दी भाषा के प्रति एकनिष्ठ रूप में समर्पित थे। उन्हें हिन्दी का अध्येता, हिन्दी का आचार्य, हिन्दी का भाषाविज्ञानी और हिन्दी का साहित्यकार होने का स्वाभिमान था। उन्होंने यह स्वाभिमान अपने विद्यार्थियों और शोधार्थियों में भी भरा था, जिससे अकादमिक क्षेत्र में वे गर्व से अपना मस्तक उठा कर बातें कर सकते थे। जिस किसी भी बुद्धिजीवी ने हिन्दी भाषा की कठिनता और उसकी अभावपरकता को लेकर उनसे बातें की उन्हें उन्होंने हिन्दी की स्वरूपगत वास्तविकता से परिचित कराया तथा अपने तर्कपूर्ण प्रतिपादन से निरुत्तर कर दिया। 'राष्ट्रभाषा हिन्दी : समस्या और समाधान' जैसी पुस्तक के लेखन के मूल में भी ऐसी ही एक घटना प्रेरणा बनी। एक बार रेल के वातानुकूलित यान में यात्रा करने के क्रम में उनकी बहस एक ऐसे ही बौद्धिक सहयात्री से हो गयी, जिसे उन्होंने अपने तर्कपूर्ण उत्तर से अभिभूत तो कर दिया, पर वह भी बुद्धिजीवी थे। सो उन्होंने उन्हें इस वास्तविक स्थिति को लिखकर प्रकाश में लाने की अपेक्षा-आवश्यकता पर बल दिया। शर्मा जी ने उन्हें आश्वस्त किया कि वह इन बिन्दुओं पर अवश्य लिखेंगे और प्रकाश में लाएँगे। साथ ही उन्हें यह भी आश्वासन दिया कि वह अपना आलेख अंग्रेजी में लिखेंगे तथा उन्हें उनके पते पर भेज देंगे। ध्यानीय होगा कि इसी घटना से अभिप्रेरित होकर उन्होंने हिन्दी में 'पारिभाषिक शब्दावली की समस्या' वाला अपना आलेख अंग्रेजी में लिखा। इसके बाद ही 'राष्ट्रभाषा हिन्दी : समस्याएँ और समाधान' पुस्तक के अन्य निबन्ध लिखे गये।

अपनी इस पुस्तक के पहले आलेख में उन्होंने भाषा के साथ धर्म, संस्कृति और राष्ट्रीयता के

अन्तःसम्बन्ध पर विचार किया और अपना अभिमत प्रस्तुत किया कि भाषा के साथ इन तीनों का कोई नित्य संबंध नहीं है, जिससे उनके पाठकों ने यह मान लिया कि भाषा के साथ इनका कोई सम्बन्ध ही नहीं है, जो गलत था। हाँ, शर्माजी को नित्य संबंध वाली स्थिति और संबंध वाली स्थिति दोनों पर विचार करना चाहिए था, पर उन्होंने पूर्ववर्ती पर ही विचार किया और परवर्ती को अपने इस आलेख में विचारणीय नहीं समझा। यहाँ शर्मा जी 'भाषा-सामान्य' और 'भाषा-विशेष' के संदर्भों को अलग-अलग रखकर अपने मत का प्रतिपादन नहीं कर सके, न ही काल-निरपेक्षता और काल-सापेक्षता के बिन्दुओं को अलगाते हुए अपने मत को संपुष्ट कर सके। जब भाषा सभी विषयों का प्रतिपाद्य है और भाषा के साथ सभी विषयों, कथ्यों और प्रतिपाद्यों का संबंध है, तब 'धर्म', संस्कृति' और 'राष्ट्रीयता' भी विषय कथ्य और प्रतिपाद्य होने के नाते भाषा से संबंधित है। भाषा उन्हें भी अभिव्यक्त करती है। ये सभी भाषा में भाषित होते हैं। इसलिए सामान्य भाषा के साथ इनका नित्य संबंध भी बैठता है। हाँ, यदि भाषा-विशेष की बात की जाए, तो वहाँ इनका पारस्परिक संबंध तो है, पर वह काल-सापेक्ष है, काल-निरपेक्ष नहीं है। अतः संबंध तो है, पर वह नित्य नहीं है। एक उदाहरण लें, कभी संस्कृत भाषा का प्रगाढ़ संबंध उस धर्म के साथ था, जिसे आज 'हिन्दू' धर्म कहते हैं। पर आज हिन्दू धर्म का साहित्य भिन्न-भिन्न भाषाओं में उपलब्ध है, पढ़ा जाता है और धार्मिक कर्मकाण्डों में संस्कृत अब भी उत्तर भारत से दक्षिण भारत तक अस्तित्व में है। मैं 2015 में जब अमेरिका के मिशिगम राज्य में उसके रोचेस्टर नगर के पार्श्ववर्ती एक भारतीय मंदिर में पूजन-अर्चन के लिए गया, तो वहाँ भी मुझे संस्कृत में ही पूजा-विषयक सारे कर्मकाण्ड करने पड़े। इस रूप में भाषा और धर्म का नित्य संबंध मानना पड़ेगा। हिन्दू धर्म के वैवाहिक कर्मकांड में संस्कृत में ही मंत्र पढ़े जाते है। वस्तुतः धर्म जिस कालावधि में प्रवर्तित-प्रतीकित होता है, उस समय की जो भाषा होती है, उसके साथ उस धर्म का अन्योन्याश्रित संबंध होता है। आज भी नमाज उर्दू भाषा में अदा नहीं की जाती है। वह अपनी मूल धर्मभाषा में ही अदा की जाती है।

इसी तरह भाषा और संस्कृति का संबंध भी है, वह अपनी तत्कालीन भाषा से अविच्छिन्न होती है। कोई भी संस्कृति अपने इतिहास में जहाँ जन्म लेती है, वहाँ उस समय की भाषा ही उसकी प्रकृति, स्वरूप और मूलभूत विशेषताओं का निरूपण करती है। आज भारत भले ही सैकड़ों भाषाओं का देश हो, पर जब मूल रूप से भारतीय संस्कृति का प्रवर्तन हुआ था तब उसका निरूपण संस्कृत में ही हुआ था। इसी भाषा के आधार पर भारत को अरण्य-संस्कृति का देश माना गया, पण्य-संस्कृति का नहीं। इसी भाषा के आधार पर मैक्समूलर जैसे जर्मन विद्वान ने यह निष्कर्ष निकाला कि "India is always transcendental and beyond" वास्तव में संस्कृति-विशेष की तत्कालीन भाषा ही वह एकमात्र माध्यम है, जिसमें वह संस्कृति 'दस्तावेजीकरण (Documentization) और 'कलाकरण' (Monumentization) दोनों रूपों में विद्यमान होती है। उसी उत्स से वह कालान्तर में अन्य-अन्य भाषाओं में प्रवाहित होती रहती है।

राष्ट्रीयता और भाषा के संदर्भ में ध्यान देने की बात यह है कि हम यहाँ सामान्य भाषिक सन्दर्भ और विशेष भाषिक संदर्भ को समझें। अपने सामान्य भाषिक सन्दर्भ में भारत की सभी भाषाएँ

राष्ट्रीय भाषाएँ हैं, पर वे 'राष्ट्रभाषा' या 'राजभाषा' केन्द्र या भारत संघ के कामकाज की भाषा नहीं हैं। ऐसी स्थिति में जो आज भारत की 'राजभाषा' है और जो स्वतंत्रता के लिए जारी संग्राम में 'राष्ट्रभाषा' थी, उस हिन्दी के साथ भारतीय राष्ट्रीयता और भारत राष्ट्र का अन्योन्याश्रित और अविनाभाव संबंध बैठता है, जब तक कि इस सन्दर्भ में भारत राष्ट्र का संविधान परिवर्तित न हो जाए। यहाँ विभिन्न राष्ट्रीय भाषाओं का संबंध अपने-अपने राज्यों के साथ बैठता है, जहाँ उनकी अस्मिता और महत्ता 'राज्यभाषा' की होती है, न कि 'राजभाषा' या 'राष्ट्रभाषा' की।

वस्तुतः शर्मा जी ने भाषा के साथ धर्म, संस्कृति और राष्ट्रीयता के संबंध को लेकर जो अपनी स्थापनाएँ की हैं, उनके पूरक रूप में ही उपर्युक्त तथ्य सामने आते हैं। शर्मा जी किसी एक भाषा के साथ धर्म-विशेष, संस्कृति-विशेष और राष्ट्रीयता-विशेष के नित्य संबंध को जहाँ नकारते हैं, वहीं मेरे द्वारा ऊपर निर्दिष्ट सारे तथ्य भी उभर कर सामने आते हैं। कहना न होगा कि ये सारे स्वर अपने दबे रूप में शर्मा जी की उपर्युक्त स्थापनाओं में ही अन्तर्भावित हैं। पर सामान्य पाठकों के लिए इसे स्पष्ट कर देने की अपेक्षा थी। मैंने यहाँ उस अपेक्षा की पूर्ति भर की है।

अपनी इस पुस्तक में शर्मा जी ने हिन्दी के महत्व, उसकी सरलता, उसके सरलीकरण, उसके राष्ट्रभाषा-राजभाषा, रूप, हिन्दी में पारिभाषिक शब्दावली, व्याकरण वर्तनी, लिपि और अनुवाद की समस्या, हिन्दी के विरोधी तत्व, उनके द्वारा हिन्दी के विरोध में दिये गये तर्कों का खंडन तथा हिन्दी के प्रचार-प्रसार जैसे पक्षों पर गहन चिन्तनात्मक विवेचन किया है। डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी के द्वारा हिन्दी के विरोध में दिये गये तर्कों का उन्होंने ऐसा तर्कपूर्ण खंडन किया है, कि चटर्जी के पक्षधर उसका कभी उत्तर नहीं दे पाएँगे।

भाषाविज्ञान पर लिखी अपनी पुस्तक 'भाषाविज्ञान की भूमिका' के आधार पर उन्हें ऐतिहासिक भाषाविज्ञानी, तुलनात्मक भाषाविज्ञानी, संरचनात्मक भाषाविज्ञानी, ध्वनिविज्ञानी और अर्थविज्ञानी माना जाएगा। उन्होंने भाषा के पारिवारिक वर्गीकरण पर लिखा। आकृतिमूलक वर्गीकरण और ध्वनि की पाश्चात्य और पौरस्त्य प्रक्रिया के वह मर्मज्ञ थे। ध्वनि-विषयक पाश्चात्य नियमों को उन्होंने बोधगम्य रूप में प्रस्तुत किया। अर्थ का विवेचन करते हुए उन्होंने भारतीय मान्यता के अनुरूप 'संकेतग्रह' का भी विवेचन किया। पदविज्ञान और वाक्यविज्ञान का सामान्य परिचय भी उन्होंने प्रस्तुत किया। पर इस पुस्तक की उनकी एक बड़ी उपलब्धि भारतीय 'भाषाविज्ञान के इतिहास' का निरूपण है। यही नहीं, अपनी इस पुस्तक में उन्होंने लिपिविज्ञान को भी लिया। इसके अन्तर्गत उन्होंने लिपि का इतिहास निरूपित करते हुए भारतीय लिपियों का विवेचन किया। यों तो वह भाषाविज्ञान की अन्तर-ज्ञानानुशासनात्मक शाखा है। पर इनमें उन्होंने एक प्रमुख शाखा 'भाषा-भूगोल' का विवेचन भी किया। अपनी इस पुस्तक में वह शुद्ध भाषाविज्ञानी की भूमिका में सामने आये। उन्होंने अपनी इस पुस्तक से भाषाविज्ञान को लोकप्रिय बनाया और हिन्दी में भाषाविज्ञान के पाठकों का निर्माण किया। 'भाषाविज्ञान' जैसे तथाकथित रूप में कठिन और 'उबाऊ' माने जाने वाले विषय को उन्होंनें सरस और आकर्षक बना कर प्रस्तुत किया। इस पुस्तक की सबसे बड़ी विशेषता इसकी 'पठनीयता' को

'श्रवणशीलता' के रूप में रूपान्तरित कर देने की है। यह शर्मा जी की अध्यापन कुशलता का सुपरिणाम है। पाठक को ऐसा प्रतीत होता है, मानों वह शर्मा जी की इस पुस्तक को पढ़ नहीं रहा हो, बल्कि उन्हें प्रत्यक्ष सुन रहा हो।

उन्होंने एक और पुस्तक हिन्दी भाषा पर लिखी है, जिसमें उनके सहयोगी लेखक रामदेव त्रिपाठी हैं। इस विषय पर धीरेन्द्र वर्मा, उदयनारायण तिवारी और भोलानाथ तिवारी ने भी पुस्तकें लिखी हैं। पर शर्मा जी की यह पुस्तक तुलनात्मक रूप से अधिक बोधगम्य और सहज दृष्टान्त निर्देशी है। संस्कृत के वैयाकरण भाषाबिद् और भाषाविज्ञानी शर्मा जी का महत्त्व एक और दृष्टि से भी है। वह है उनका वैयाकरण रूप। पूर्ववर्तियों के द्वारा लिखित व्याकरणों की परम्परा से सुपरिचित रहने के कारण वह हिन्दी भाषा की शुद्धता के प्रबल आग्रही थे। उन्होंने अपने विद्यार्थियों और शोधार्थियों को सदैव भाषिक शुद्धता के प्रादर्श के रूप में गढ़ा। स्वयं उनके वाचन और लेखन में उनसे कभी कोई स्खलन नहीं हुआ। नियमों की अनुशासना उनकी भाषा-चेतना का कवच थी। इस व्याकरणिक नियमपरकता के अन्तर्गत ही उन्होंने अपनी भाषिक शैली की 'अंगुष्क-छाप' (Finger Print) बनायी। फ़र्थ ने जो 'स्विनबर्नीय' शैली की बात की है, वैसे ही हम उनकी शैली को देवेन्द्र शैली, के नाम से निर्दिष्ट कर सकते हैं, जिसके व्यापक दर्शन हमें उनके सर्जनात्मक लेखन में प्राप्त होते हैं।

आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा हिन्दी के सबसे बड़े अधिभाषाविज्ञानी (Mela linguish) थे। उन्होंने भाषा में भाषा, हिन्दीभाषा और भाषाविज्ञान को ही प्रायः विवेच्य और प्रतिपाद्य बनाया। इस तरह उन्होंने भाषा के अधिभाषात्मक प्रकार्य को अपने वाचन और लेखन में प्रस्तुत किया। एम.ए. के. हैलीडे (आचार्य शर्मा के गुरुभाई) जिसे भाषा का विचारात्मक प्रकार्य (ideational function) कहते हैं, उसके एक भाग को शर्मा जी ने अपने अधिभाषात्मक प्रकार्य में ही समाविष्ट कर लिया है, शेष भाग उनके द्वारा निरूपित भाषा के सौन्दर्यात्मक प्रकार्य (Aesthetic function) में समाविष्ट हो जाता है। यह प्रकार्य शर्मा जी के वैयक्तिक निबन्धों और एकांकियों में सक्रिय है। यहाँ क्रमशः भाषा की आत्मज्ञापक प्रोक्ति और संवादी प्रोक्ति की सौन्दर्यात्मक भूमिका देखने को मिलती है।

मेरी दृष्टि में शर्मा जी हिन्दी भाषा और भारतीय भाषाचिन्तन के 'ब्रांड एम्बेसडर' थे। उनकी सन्तानों और मानस-सन्तानों को चाहिए कि वे उनके भाषाविज्ञानी और भाषाचिन्तक-विषयक महत्त्वपूर्ण प्रकाशित आलेखों को संकलित कर प्रकाशित कराएँ। हिन्दी में भाषा-चेतना का ऐसा ऊर्जात्मक ताप और आलोक प्रदान करने वाला कोई और भाषाविज्ञानी नहीं है।

(अद्यतन भाषाविज्ञान : प्रथम प्रामाणिक विमर्श, 'भाषाविमर्श : नव्य भाषावैज्ञानिक : संदर्भ – तथा पाश्चात्य व्याकरण विश्वकोश– के रचयिता तथा प्रतिष्ठित और यशस्वी सैद्धांतिक-सर्जनात्मक आलोचक)

'सांईकृपा' 58, लाल एवेन्यू डाकघर– छेहर्टा, अमृतसर
पिन– 143105 (पंजाब)
मो. 09878647468

भाषा, हिन्दी और हम

— आर.बी. भण्डारकर

1. अपनी भाषा अपनी बात -

'कोई पास न रहने पर भी जन मन मौन नहीं रहता।' (गुप्त जी) सच है मनुष्य शांत हो या अशांत, सुख में हो या दुख में, सहज हो या गंभीर अवस्था में, उसके अन्तर्मन में भावों और विचारों का प्रस्फुटन होता ही रहता है। यह भाव सदैव अभिव्यक्त होना चाहते हैं, इसलिए इन्हें माध्यम की तलाश रहती है।

भावाभिव्यक्ति के अनेक माध्यम हो सकते हैं पर भाषा इनमें से सबसे सशक्त माध्यम है। भाषा का जन्म भी भावाभिव्यक्ति की प्रबलता और उसकी सशक्तता, सार्थक संप्रेषणता के कारण ही हुआ। भाषा केवल अभिव्यक्ति का माध्यम ही नहीं होती वह संस्कृति की वाहिका भी होती है। आज संसार में अनेक लिखित-अलिखित भाषाएं हैं इनमें से कुछ भाषाएं अपने भाषिक और साहित्यिक रूप में काफी समृद्ध हैं। संस्कृत-सुता हिन्दी विश्व की समृद्धतम् भाषाओं में से एक है। हिन्दी की देवनागरी लिपि, इसका समुन्नत व्याकरण और इसका प्रचुर साहित्य सबको आकर्षित करता है।

भाषा अनेक रूपों में हमारे सामने आती है—मातृभाषा, राजभाषा, राष्ट्रभाषा तथा सम्पर्क भाषा। एक बात बिल्कुल सच है कि कोई व्यक्ति अपने भावों/विचारों को अपनी ही भाषा में सर्वाधिक कुशलता से व्यक्त कर सकता है, इसलिए अपनी ही भाषा में कार्य करने से उसमें कार्यपटुता आती है। यदि हम मनन किसी एक भाषा में तथा अभिव्यक्ति किसी अन्य भाषा में करेंगे तो इसमें हमें अनुवाद के माध्यम को अपनाना पड़ेगा, अनुवाद कितना भी उच्चकोटि का क्यों न हो, मूल के मुकावले उन्नीस ही रहेगा। इसलिए ऐसी स्थिति में निरी भाषा सामने आती है; भाव जो संस्कृति और सामाजिकता के वाहक होते हैं पीछे रह जाते हैं।

भाषा और साहित्य की दृष्टि से हमारा देश काफी समृद्धशाली रहा है, पर सदियों की गुलामी ने हमारी भाषा को काफी पीछे धकेल दिया था। इसलिए भाषा, साहित्य में एवं लोक में तो पनपती और पुष्ट होती रही पर शासन में पिछड़ गई। राजकाज की भाषा कभी अरबी-फारसी रही तो कभी अंग्रेजी। इसका यह परिणाम हुआ कि राजतंत्र का काल रहा हो या लोकतंत्र का 'जन' और 'तंत्र' अर्थात् नागरिकों और शासन के बीच सार्थक संवाद नहीं बन पाया। इस काल में हिन्दी हमारे जन

मानस में तो साम्राज्ञी के रूप में रही पर राजकाज में विदेशी भाषाओं का ही बोलबाला रहा। जिससे हर भारतीय नागरिक घुटन मेहसूस करता रहता था। स्वतंत्रता के बाद पिछले पाँच दशक में 'राजभाषा' के रूप में हिन्दी को स्थान तो मिला है पर उच्च स्तर पर अंग्रेजी अभी भी अपना कब्जा जमाए हुए है।

नियम कानून, विधेयक, अनुबंध करार आदि अधिकांशतः आज भी अंग्रेजी में बनते हैं, जिन्हें आम आदमी कतई नहीं समझ पाता है। यहाँ यह तर्क दिया जा सकता है कि अब उक्त सब कुछ द्विभाषी अर्थात् हिन्दी अंग्रेजी में हो रहा है तो यहाँ भी हिन्दी की दुर्दशा विचारणीय है। 'द्विभाषी' सिद्धांत में प्रायः जो भाषा प्रयोग की जाती है वह अनुवाद की भाषा अर्थात् शब्दकोश की भाषा होती है जिससे अनुवाद तो हो जाता है पर व्यक्त भावों की लगभग हत्या हो जाती है। यहाँ एक मजेदार उदाहरण ध्यातव्य है। दूरदर्शन में प्रस्तुति सहायक (सहायक प्रोड्यूसर) का एक आंग्ल भाषा में तो ठीक है, प्रोडक्शन असिस्टेण्ट। हिन्दी में कहीं प्रस्तुति सहायक, कहीं उत्पादन सहायक, कहीं निर्माण सहायक लिख दिया जाता है। आशय अनुवाद कर्ताओं ने 'अंग्रेजी-हिन्दी' शब्दकोश देख जिसको जो अर्थ जंचा लिख दिया। वस्तुतः भाषा बहता नीर होती है। बहती रहेगी तो निर्मल रहेगी। बहेगी तो अन्य छोटे-छोटे स्रोत मिलते रहेंगे जो भाषा को समृद्ध करेंगे। हिन्दी आज राजभाषा पद पर आसीन है यदि उसे संपूर्ण संकल्प के साथ, सही मंशा में राजभाषा बनाना है तो उदार रवैया अपनाना होगा उसमें 'लोक' को शामिल करना होगा, लोक संस्कृति को सम्मिलित करना होगा। संसार में आज या क्या कभी भी कोई ऐसी भाषा नहीं रही जो स्वयं को शत प्रतिशत शुद्ध कह सके अर्थात् उसमें अन्य भाषाओं के शब्द तो होते ही हैं, रहेंगे भी, क्योंकि भाषा समाज में पैदा होती और सामाजिक प्राणी होने के नाते मनुष्य भाषाओं का परस्पर आदान-प्रदान करता ही है। हाँ हिन्दी के संदर्भ में यहाँ एक सावधानी रखनी होगी कि हम सुगमता के लिए कार्यालयीन कार्यों में 'जन' की जबान पर चढ़े अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग तो करें पर उसे हिन्दी की जगह हिन्ग्रेजी न बना दें। हिन्दी स्वयं समृद्ध है उसकी सगी बहिनें जिन्हें हम 'ख' क्षेत्रों की भाषाएँ कहते हैं भी काफी समृद्ध हैं; इसके बाद भी हमारा लोक तो इतना समृद्ध है कि उसमें किसी भी भाव, विचार को पूर्ण सार्थकता से अभिव्यक्त किया जा सकता है। जब हम इतने सम्पन्न हैं तो उधार क्यों लें। यहाँ एक बात कहनी और आवश्यक लगती है भाषा कोई भी हो उसके शब्द कैसे भी हों कठिन नहीं होते हैं केवल अभ्यास की आवश्यकता होती है जैसे-जैसे उनसे हमारा परिचय बढ़ता जाता है वे हमें हमारे अपने लगने लगते हैं फिर कठिन या सरल की कोई समस्या ही नहीं रहती।

जिस हिन्दी ने साहित्य-जगत को तुलसी, सूर, कबीर, प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी जैसे महाकवि दिए हैं, वह अपने प्रचार-प्रसार के लिए किसी को मोहताज नहीं हैं। उसे किसी की कृपा नहीं चाहिए वह पूरे देश के जनमानस में राष्ट्रभाषा के रूप में स्थापित है और राजभाषा के पद पर भी वह स्वयं के आरूढ़ हो जावेगी। यहाँ नेपाली जी का कथन उल्लेखनीय है :

बढ़ने दो इसे सदा आगे
हिन्दी जनमन की गंगा है,

यह माध्यम उस स्वाधीन देश का
जिसकी ध्वजा तिरंगा है।
हो काम पवित्र इसी सुर में
इसमें हर हृदय तड़पने दो,
हिन्दी है भारत की बोली
तो अपने आप पनपने दो।

बस आवश्यकता है हिन्दी का दीप जलाए रखने की।

2. हिन्दी और हम -

आठवाँ विश्व हिन्दी सम्मेलन सम्पन्न हो गया है। सरकार यह सोचकर निश्चित ही खुश होगी कि हिन्दी संयुक्त राष्ट्र की भाषा जब बनेगी तब बनेगी अभी फिलहाल उसे संयुक्त राष्ट्र संघ के मुख्यालय के सभाभवन तक तो पहुँचा ही दिया गया है। वे साहित्यकार, भाषाविद्, पत्रकार, राजनेता और हिन्दी के पैरोकार भी खुश होंगे, जो इसी सम्मेलन के बहाने कम से कम विदेश यात्रा तो कर ही आए। जो नहीं जा सके वे अब पत्र पत्रिकाओं में व्यंग्य लिख रहे हैं। तरह तरह की कटूक्तियाँ कर रहे हैं।

यह सत्य है कि हिन्दी केवल एक भाषा ही नहीं है, वह हमारी संस्कृति है, हमारी अस्मिता है, हमारी पहचान है। हिन्दी पूरे देश में उत्तर से दक्षिण तक और पूरब से पश्चिम तक, निर्वाधरूप से बोली जाती है, समझी जाती है। इसीलिए हिन्दी हमारी सांस्कृतिक एकता का केन्द्र बिन्दु भी है। जो भारतीय विदेशों में बसे हैं, उनकी मातृभाषा कोई भी हो पर उन्हें आमतौर पर हिन्दी भाषी ही माना जाता है। इसी प्रकार जब कोई भारतीय विदेश भ्रमण पर जाता है, तब भी उसे समान्यतः 'हिन्दी' ही माना जाता है। इस दृष्टि से अगर देखा जाये तो विदेशों में एकमात्र हिन्दी भाषा ही देश का प्रतिनिधित्व करती है।

यह कहा जाना कि दक्षिण में हिन्दी का विरोध है, कतई सही नहीं है। कुछ राजनीतिक कारणों से वहाँ हिन्दी का किंचित विरोध भले ही हो पर सामाजिक व शैक्षिक स्तर पर रंच मात्र विरोध नहीं है। इतिहास पलटकर देखें तो ज्ञात होता है, कि पूरे देश में आध्यात्म का परचम फहराने वाले, मानवता का संदेश देने वाले अनेक आचार्य दक्षिण में हुए। संत वल्लभाचार्य, संत रामानुजाचार्य यहाँ तक कि संत शिरोमणि शंकराचार्य भी दक्षिण की ही देन हैं, और इन आचार्यों ने निर्विध्न रूप से समूचे देश में अपने पवित्र उपदेश दिए। इन्हें कहीं कोई भाषायी दिक्कत नहीं आई। आचार्य शंकर द्वारा भारत के चारों कोनों में चार पीठों की स्थापना को भी एक प्रकार से पूरे देश में हिन्दी की प्रतिष्ठा का भी आयाम कहा जा सकता है।

जनसंख्या की दृष्टि से पूरे विश्व में भारत दूसरे क्रम पर है। ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में भी वह पीछे नहीं है। उसका व्यापार भी प्राचीन काल से ही लगभग पूरे विश्व में फैला है। इसके अतिरिक्त यह भी सही है कि परतंत्रता काल में भारतीय श्रमिक ''गिरमिटिया मजदूर'' के रूप में में विदेशों में खूब ले

जाये गए; तो आज भी संसार के लगभग प्रत्येक देश में भारतीय श्रमिक (शारीरिक श्रम/बौद्धिक श्रम) प्रभूत मात्रा में मौजूद हैं। केवल इतना ही नहीं, रोजी रोटी की तलाश में आज भी अनेक युवा विदेशों में जा रहे हैं। आप निश्चित मानिए कि विदेशों में हिन्दी के प्रचार-प्रसार में इनका अनिर्वचनीय योगदान है।

यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि अधिकांश महान प्राचीन सभ्यताएँ वास्तव में यूरोप और एशिया महाद्वीपों में ही पनपी। (मय सभ्यता जैसी एकाधिक सभ्यताओं को छोड़कर) अमेरिका और ऑस्ट्रेलिया तो प्रायः निर्जन थे, आबाद हुए हैं यूरोपीय, आबादी से। इसी कारण से महान प्राचीन भाषाएँ भी प्रायः इसी क्षेत्र में पनपी। ग्रीक, लैटिन, संस्कृत ऐसी ही भाषाएँ हैं। संसार की महानतम भाषाओं में से एक संस्कृत की पुत्री होने के नाते, हिन्दी भारोपीय परिवार (इंडो आर्यन फेमिली) की भाषा है। इसी कारण से उत्तर भारत की अधिकांश भाषाएँ पंजाबी, मराठी, गुजराती, बंगाली, उड़िया आदि हिन्दी की सहोदरा (बहिनें) हैं। किंकिच लिपि-भेद या उच्चारण-भेद को छोड़ दिया जाए तो प्रायः सभी में एक रूपता है। दक्षिण की चारों भाषाएँ तमिल, तेलगु, कन्नड, मलयालम यद्यपि एक पृथक परिवार-द्रविड़ परिवार की भाषाएँ हैं पर प्राचीन काल के राजतंत्र के विस्तारों के कारण, धर्म-प्राण साधुओं के प्रचार अभियानों के कारण इनमें भी संस्कृत शब्दों की भरमार है। अतः अच्छा हिन्दी भाषाविद् इन भाषाओं को भलीभाँति समझ लेता है।

भारोपीय परिवार विशाल भाषा परिवार है; इसलिए हम देखते हैं, अरबी, फारसी, फ्रेंच, जर्मन, अंग्रेजी, तुर्की, पुर्तगाली, भाषाओं के शब्दों में काफी समानताएँ हैं। संस्कृत का पितृ शब्द फारसी में पिदर, अंग्रेजी में फादर, जर्मन में फादअ हो जाता है। शब्दों का यत्किंचित विश्लेषण करने से ही इन भाषाओं को हिन्दी भाषी और हिन्दी भाषा के शब्दों को उक्त भाषाओं को बोलने वाले आसानी से समझ लेते हैं। इसीलिए जिन देशों में एशियायी यूरोपीय मूल की आबादी अधिक है वहाँ हिन्दी का प्रचार-प्रसार करने में कोई बड़ी कठिनाई नहीं है। अमेरिकन देशों में भी बढ़ते व्यापारिक, वैज्ञानिक आदान-प्रदान के कारण हिन्दी के फैलाव की अपार संभावनाएँ हैं। वैश्वीकरण का युग है (हमारा देश तो बहुत पहले से ही वसुधैव कुटुम्बकम् कहता आ रहा है) और बाजारवाद का बोलबाला है। क्षेत्रफल की दृष्टि से भी और जनसंख्या की दृष्टि से भी भारत बहुत बड़ा बाजार है। दूसरी ओर सोफ्टवेयर के क्षेत्र में भारत ने अद्भुत प्रगति की है। इसलिए अमरीकी देशों में भी हमारा बहुत प्रभाव है इस दृष्टि से भी हिन्दी की विश्व-प्रतिष्ठा सहज है। वैसे भी विश्व में चीनी के बाद सर्वाधिक संख्या हिन्दी भाषियों की ही है। (कुछ विद्वानों का तो मानना है कि वस्तुतः पूरे विश्व में हिन्दी भाषी मंदारिन भाषियों से अधिक हैं।)

कठिनाइयाँ कहाँ हैं? लगता है एक मात्र कठिनाई है— राजनीतिक इच्छाशक्ति की कमी। हिन्दी को 14 सितम्बर, 1949 को देश में राजभाषा का दर्जा दिया गया था, तब से आजतक वह सच्चे अर्थों में राजभाषा नहीं बन पाई। सभी सरकारी कवायदें महज औपचारिकता ही साबित हुई प्रतीत हो रही हैं। ठीक इसी प्रकार संयुक्त राष्ट्रसंघ में हिन्दी की अधिकारिक भाषा बनाने में भी राजनीतिक

पहल व राजनीतिक सक्रियता की ही आवश्यकता है। लगभग सौ करोड़ के व्यय की व्यवस्था और लगभग 100 देशों का समर्थ जुटाना- यह कार्य तो सरकार को ही करना होगा।

हिन्दी को विदेशों में और लोकप्रिय बनाने के लिए औपचारिक प्रयासों के अतिरिक्त कुछ और ठोस कदम उठाने होंगे। कई विदेशी विश्वविद्यालयों में हिन्दी पढ़ाई जाती है। सरकार उक्त विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति/फैलोशिप दे सकती है, इससे निश्चित रूप से छात्रसंख्या बढ़ेगी। जो विदेशी विद्वान हिन्दी में कार्य कर रहे हैं, उन्हें शोध-अनुदान दिये जा सकते हैं; देश में जब तब बुलाकर उन्हें सम्मानित किया जा सकता है और भी उपाय हो सकते हैं।

एक बात और हम जो लोग हिन्दी भाषी होने की दुहाई देते हैं, इनका हिन्दी ज्ञान तो ऐसा होता है कि देखकर आप दाँतो तले उंगली दबाने को बाध्य हो जायेंगे। विद्वानों की बात छोड़ दें तो हमें अन्य भाषाएँ (भारतीय या विदेशी) आती ही नहीं। सीखना भी नहीं चाहते। एक गैर-हिन्दी भाषी अपनी भाषा में तो पारंगत होता ही है जब हिन्दी क्षेत्रों में नौकरी करता है या अन्यथा निवास करता है तो हिन्दी भी सीख लेता है, लेकिन हमारे पड़ोस में कोई गैर-हिन्दी भाषी बरसों से बना रहे, पड़ोस में ही बस जाए, पर हम उसकी भाषा नहीं सीख पाते हैं। क्या यह उचित है ?

हिन्दी भाषा-विदों को भी सक्रिय पहल करने की आवश्यकता है। आप सभी जानते हैं कि हिन्दी की लिपि देवनागरी, काफी समृद्ध है, काफी वैज्ञानिक है। इसमें 16 स्वर हैं (यद्यपि अब चलन में 13 ही रह गए हैं) 36 व्यंजन हैं (यद्यपि अब ङ, ञ जैसे वर्णों का अस्तित्व लगभग समाप्त हो गया है) इसके अतिरिक्त ड़, ढ़, श्र जैसे वर्ण भी अस्तित्व में हैं। वस्तुतः मानस्वरों का निर्धारण करते वक्त इनका अस्तित्व उच्चारण की शुद्धता की दृष्टि से हुआ। फिर भी यदि विश्व स्तर पर हिन्दी को आसान बनाने के लिए वर्णों को कुछ और कम किया जा सके तो किया जाना चाहिए।

एक समस्या मात्राओं की भी है— मात्राएँ वर्ण के ऊपर भी लगती हैं, नीचे भी लगती हैं वर्ण के आगे भी लगती हैं, पीछे भी लगती हैं कुछ तो बीच में भी लगती हैं जबकि अधिकांश भाषाओं में वर्ण के बाद कोई दूसरा वर्ण (स्वर) लगाकर मात्राएँ लगा ली जाती हैं।

हिन्दी में संयुक्त अक्षर—वर्ण के ऊपर वर्ण चढ़ाया जाता है (जैसे पर्व) तो वर्ण के नीचे भी वर्ण मिलाया जाता है (जैसे पृथ्वी या प्रश्न) लिपि की इन कठिनाइयों को दूर करना चाहिए। महात्मा गाँधी ने इस संबंध में कुछ प्रयोग किये थे, बाद में भी अनेक भाषाविदों ने भी पहले की, लेकिन नतीजा कोई उल्लेखनीय नहीं रहा। यही समस्या शब्द-विन्यास और वाक्य-विन्यास के स्तर पर भी है।

एक समस्या अनुवाद की भी है। देशी-विदेशी सभी विद्वान मानते हैं कि अन्य भाषाओं से हिन्दी में जो अनुवाद होते हैं वे ऐसे शब्दकोशीय होते हैं कि इन्हें समझना कठित तो होता ही है इनमें असली की आत्मा भी मर जाती है।

तो यह तो निश्चित है कि भाषाविदों को, हिन्दी की अपेक्षकृत सरल बनाने के लिए कमर कसनी होगी। शासन को चाहिए कि पहले राजभाषा हिन्दी को अपनी प्रतिष्ठा दिलाएँ फिर उसे सार्क

देशों की भाषा बनाएँ, फिर संयुक्त राष्ट्र की भाषा बनाएँ। सीढ़ी दर सीढ़ी चढ़ने से ही मंजिल मिलेगी और यदि केवल औपचारिकता करनी हो तो वह तो हम सब कर ही रहे हैं।

हिन्दी है ललाट की बिंदी –

हमारे देश में प्रजातांत्रिक शासन व्यवस्था है। लोक तंत्र में शासन जनता का, जनता के द्वारा, जनता के लिए होता है। ऐसी स्थिति में 'लोक' और 'तंत्र' के बीच सम्वाद का महत्व काफी बढ़ जाता है। संवाद–हीनता से सुचारु शासन नहीं हो सकता और सुचारु शासन के बिना सही जन कल्याण नहीं हो सकता। अच्छे संवाद के लिए आवश्यक है कि शासन, प्रशासन और जनता की भाषा एक नहीं, तो कम से कम एक जैसी अवश्य होनी चाहिए। यदि ऐसा नहीं होगा तो लोक की भाषा तंत्र नहीं समझ पायेगा और तंत्र की भाषा लोक नहीं समझ पायेगा। चूँकि लोक में हिन्दी ही एक ऐसी भाषा है जिसे सर्वत्र समझा जाता है। अतः सरकारी कार्यालयों में हिन्दी का प्रयोग आवश्यक है।

रामचरितमानस में गोस्वामी जी ने कहा है – ''जे प्राकृत कवि परम सयाने, भाषा जिन्ह हरि चरित बखाने। कीरति भनिति भूत भल सोई, सुरसरि सम सब कर हित होई।'' स्पष्ट है कि भाषा (जनभाषा) में रचित साहित्य ही गंगा जी की तरह सबका हितकारी हो सकता है क्योंकि वास्तव में साहित्य, लोक की अभिव्यक्ति होता है, एक प्रकार का संवाद होता है।

आचार्य केशवदास ने अपने साहित्य को अधिक लोक व्यापी बनाने के लिए ही उसे भाषा (हिन्दी) में लिखा, उनका कहना है कि यद्यपि हिन्दी में उन्हें पारंगतता प्राप्त नहीं थी –

भाषा बोल न जानहीं जिनके कुल के दास।
तिन्ह भाषा कविता करी जड़मति केशवदास।।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि प्रायः हर काल में शासन ने और समाज सुधारक संत-महात्माओं, मनीषियों-कवियों ने लोक भाषा का उपयोग ही श्रेयस्कर माना, उसे अपनाया भी।

राजभाषा हिन्दी को संसार की महानतम भाषाओं में से एक-संस्कृत की पुत्री होने का गौरव प्राप्त है, इसलिए यह अत्यंत समृद्ध है। किसी भाषा की समृद्धि मुख्य रूप से उसके शब्द भण्डार से आंकी जाती है। चूँकि हिन्दी में 'समन्वय बनाने' और 'आत्मसात' करने की प्रबल शक्ति है, इसलिए इसकी शब्द-संपदा भी अत्यंत विशाल है। हिन्दी में मुख्य रूप से चार प्रकार के शब्द हैं– तत्सम (जो संस्कृत से ज्यों के त्यों आये) तद्भव (जो संस्कृत से तो आये पर उनका हिन्दी करण हो गया) देशज (लोक में जन्मे शब्द) और विदेशी (अन्य भाषाओं से आये शब्द) यहाँ उल्लेखनीय है कि चूँकि संस्कृत भारोपीय भाषा-परिवार से है, अतः यूरोप और एशिया की अनेक भाषाओं के शब्द मूल रूप में एक जैसे हैं।

एक तो हमारा देश अत्यंत प्राचीन काल से ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में बहुत समृद्ध रहा है, दूसरे, प्राचीनकाल से ही भारत के लोग राजनीतिक, व्यापारिक व धार्मिक कार्यों से दूसरे देशों में जाते रहें हैं और विदेशों से भी अनेक राजनयिक, व्यापारी अनुसंधित्सु भारत आते रहे हैं (बाद में तो एक स्थिति

ऐसी आई कि देश-विदेशी हुकूमत में ही चला गया था) इन सब कारणों से हिन्दी में देशी और विदेशी भाषाओं के शब्द प्रभूत मात्रा में आ गए जिन्हें कुछ को तो हिन्दी ने मूल रूप में स्वीकार कर लिया (कैंची, चाकू) और कुछ का हिन्दी करण कर लिया (लालटेन, साईकल आदि)।

हिन्दी की शब्द संपदा विशाल तो है, पर इतनी भारी भरकम नहीं कि हर भाव के लिए, प्रत्येक अभिव्यक्ति के अलग अलग शब्द हों। हिन्दी के शब्दों में इतनी शक्ति है कि वे स्थान, समय, वक्ता के अभिप्रेत की दृष्टि से एक ही शब्द द्वारा कई प्रकार के अर्थ अभिव्यक्त कर सकते हैं। अभिधा, लक्षणा, व्यंजना शब्द शक्तियाँ अर्थाभिव्यंजन में कमाल की शक्ति दिखाती हैं।

हमारा लोक भी बहुत समृद्ध है। यहाँ पक्षियों के कलरव से, झरनों की झरझर से, नदियों कल कल से, हवा की मर मर से, प्रकृति-नटी की एक एक गतिविधि से शब्द की व्युत्पत्ति हो जाती है। पश्चिमी हिन्दी, पूर्वी हिन्दी, में जो अनेक बोलियाँ, विभाषाएँ हैं, वे हमारी शब्द-सम्पदा के सागर में नित नये 'शब्द-मोती' उड़ेलती रहती हैं। हिन्दी की एक विशेषता यह भी है कि इसमें संस्कृति का समागम है। जहाँ अंग्रेजी में चाचा, मामा, फूफा, मौसा को सम्बोधित करने के लिए एक ही शब्द 'अंकल' है, वहीं हिन्दी में अलग-अलग शब्द हैं। उनके यहाँ तो एक ही शब्द 'ब्रदर इन लॉ' साले, बहनोई, साढू भाई सभी के लिए प्रयोग कर लिया जाता है।

हिन्दी की लिपि देवनागरी है। यह भी बड़ी विलक्षण है। स्वर और व्यंजनों का क्रम मनोवैज्ञानिक तो है ही, उच्चारण करने व सीखने के लिए भी माकूल है। अंग्रेजी में ''ए'' के बाद ''बी'' आता है। 'बी' में 'ब' है तथा 'ई' की मात्रा भी है। जरा सोचिए कितनी विसंगति है, जब हमारे स्वर-यंत्र ने अभी 'ई' को पढ़ा ही नहीं तो 'बी' का उच्चारण कैसे करेगा। हिन्दी में ऐसा नहीं है। यहाँ पहले स्वरों को क्रमवार सजाया गया है और फिर व्यंजनों को। अंग्रेजी में ए, ई, आई, ओ, यू, पाँच स्वर हैं। सभी प्रकार की मात्राएँ इन्हीं से लगानी पड़ती हैं जब कि इस कार्य के लिए हिन्दी में 16 स्वर हैं जिन्में 13 तो आज भी प्रचलन में हैं। अनुस्वार भी अंग्रेजी की 'एन' की तुलना में हिन्दी में — ङ, ञ, ण, न हैं।

हिन्दी का व्याकरण भी उत्कृष्ट है, और पिंगल शास्त्र की तो सानी ही नहीं है। केवल इतना ही नहीं हिन्दी ने अन्य भारतीय भाषाओं के व्याकरण से समन्वय कर नये वाक्य विन्यास को भी आत्मसात कर लिया है— ''आपको कहाँ जाना है'' (आपने कहाँ जाना है)। वस्तुतः व्याकरण जहाँ भाषा की शुद्धता पर बल देता है, वहीं भाषा विज्ञान कहता है कि जन सामान्य ने जिन शब्दों को जिन रूपों में स्वीकार कर लिया है यदि उनसे भावाभिव्यंजन में बाधा नहीं आती है तो उन्हें स्वीकार कर लिया जाना चाहिए। इसी के अनुरूप आज हिन्दी में 'गण्यमान्य' (गणमान्य) 'अंतर्राष्ट्रीय' (अंतर-राष्ट्रिय), 'उपरोक्त' (उपर्युक्त) जैसे शब्द आम प्रचलन में आ गये हैं। आशय यह है कि हिन्दी-मनीषियों की कोशिश यह रही है कि भाषा को संचरण योग्य (समझने योग्य, जिसे आंग्ल भाषा में ''कम्युनिकेबुल'' कहा जाता है) बनाया जावे, पर भाषा का स्वरूप भी विकृत न होने दिया जावे।

इतनी सामर्थ्यवान होने के बावजूद हिन्दी सरकारी कार्यालयों में अपनी स्थिति उतनी मजबूत क्यों नहीं कर पाई है जितनी कि होनी चाहिए। वह कार्यालयों में गहरी पैठ क्यों नहीं बना पाई, दरवाजे

पर ही ठिठक क्यों गई है। इसके अनेक कारण हैं— सबसे बड़ा कारण है, बरसों की राजनीतिक दासता का दंश। फिर स्वतंत्रता के बाद संवैधानिक व्यवस्था ने भी गति धीमी रखी। अंत में आड़े आई अधिकारियों, कर्मचारियों की मानसिकता। कुछ मनोवैज्ञानिक कारण ही रहे।

कार्यालयों में कुछ लोग सोचते हैं कि अगर हिन्दी का प्रयोग करेंगे तो कमतर समझे जावेंगे। कुछ सोचते हैं कि हिन्दी में पत्र लिखेंगे तो वरिष्ठ कार्यालय में उन्हें कोई पढ़ेगा नहीं या पढ़ पायेगा नहीं जिससे आवश्यक कार्यवाही बाधित होगी। कुछ डरते हैं कि हिन्दी कठिन है, प्रयोग करने से गलती हो जावेगी। कुछ दूसरों के देखा-देखी अंग्रेजी का प्रयोग करते हैं, भले ही वह गलत हो। कुछ सोचते हैं अंग्रेजी-पत्र लिखना सरल होता है क्योंकि पहला पैराग्राफ व अंतिम पैराग्राफ सभी पत्रों में एक जैसा होता है, बीच की भाषा, पत्र की विषय-वस्तु के अनुसार लिख दीजिए— हो गया पत्र तैयार। फाइलों (नस्तियों) में भी प्रायः एक बंधी हुई भाषा का प्रयोग होता है, अतः अंग्रेजी लिखने में सरलता होती है। कुछ सोचते हैं कि हम तो अंग्रेजी की एक निश्चित लेखन पद्धति में ढले हुए हैं। अब अगर हिन्दी लिखेंगे तो मान लो किसी अंग्रेजी शब्द का स्थानापन्न हिन्दी में नहीं सूझा तो क्या होगा। मेरा मानना है कि यह सब भ्रम है। कोई भाषा कठिन नहीं होती। आवश्यकता परिचय और अभ्यास की होती है शब्दों से ज्यों-ज्यों परिचय बढ़ता जावेगा वे हमारे हमजोली होते जावेंगे।... आप एक कदम आगे तो बढ़ाइये, हिन्दी में लिखिए, जहाँ उपयुक्त शब्द न मिले, वहाँ अंग्रेजी शब्द को ही देव नागरी में लिख दीजिए। इस में भी असुविधा हो तो अंग्रेजी शब्द इंग्लिश में ही लिख दीजिए। ... यहाँ कुछ शुद्धतावादी बाधा बनते हैं। उनकी सोच है कि अगर ऐसा होगा तो हिन्दी, हिन्दी नहीं रहेगी। हिंग्लिश या हिंग्रेजी हो जावेगी। मैं ऐसा नहीं मानता। आज भी हिन्दी में ढेरों शब्द पुर्तगाली, फ्रांसीसी, अरबी, फारसी के हैं, तो क्या हिन्दी कभी हिर्तगाली, हारसी या हरबी बनी। आज हम धोती कुर्ता के स्थान पर पेंट शर्ट पहन रहे हैं, तो क्या हम यूरोपियन हो गए। सबकी बनावट, रंग-रूप, कद-काठी, प्रकृति अलग अलग है अतः कोई एक दूसरा हो ही नहीं सकता। यही स्थिति भाषा के साथ लागू होती है। आज वैश्वीकरण का युग है। प्रायः सभी जगह के लोग एक दूसरे का रहन-सहन, वेश-भूषा, खान-पान, बोल-चाल अपना रहे हैं, ऐसा स्वाभाविक भी है। तो अब ऐसा करने वाले ये लोग बदले नहीं, तो भाषा कैसे बदल जाएगी। हिन्दी में आज गज़ल आ गई, जापानी हाइकू आ गया। तो क्या हिन्दी के गीत बदले, छंद बदले ? यदि यहाँ कुछ नहीं बिगड़ा तो चंद बाहरी शब्द हिन्दी का क्या बिगाड़ लेंगे। हिन्दी बड़ी सक्षम है, इसने कई दंश झेले हैं पर ''सूरदास की कारी कामर पै चढ़ै न दूजौ रंग'' की तरह इसने अपना अस्तित्व बनाये रखा है, इसलिए हमें हिन्दी के मूल स्वरूप को बाधित किए बिना अन्य भाषाओं के शब्दों का उपयोग करने में संकोच नहीं होना चाहिए। हाँ अंग्रेजी शब्दो को जानबूझ कर इस प्रकार नहीं ठूंसना चाहिए कि वे पैबंद-से लगें।

एक बात और, ''लोक'' बड़ा चतुर होता है। कभी कभी कई विदेशी शब्दों को ऐसे आत्मसात कर लेता है कि आश्चर्य होता है। म.प्र. के भिण्ड जिले में 'भैरंट' 'वालट्टर', 'हिजाईनेस' ऐसे ही शब्द हैं जो अंग्रेजी के होते हुए भी देशज रूप में खप गए हैं।

कुछ लोगों का कहना है कि कठिनाई दक्षिण के प्रदेशों में है।... नहीं, बिल्कुल नहीं। कभी किन्ही राजनीतिक कारणों से भले ही वहाँ हिन्दी का विरोध हुआ हो पर आम जन हिन्दी को प्यार करता है।

इतिहास साक्षी है कि भारत में अधिकांश धार्मिक आंदोलन दक्षिण भारतीय आचार्यों ने ही चलाए। जो पूरे भारत में पूरे समभाव से फूले फले। आज भी दक्षिण भारतीय भाषाओं में संस्कृत के शब्द प्रचुरता में मिलते हैं हिन्दी गीतों, हिन्दी सिनेमा की दक्षिण में भी अच्छी पैठ है।

अब समय आ गया है कि हमें बाधाओं के ऊपर उठकर सरकारी कार्यों में राजभाषा हिन्दी का प्रयोग करना चाहिए, ताकि हम जिनके लिए हैं, जिनके लिए कार्य करते हैं, वे हमें जान सकें, हमारी कार्य प्रणाली जान सकें, हमारी गति-प्रगति जान सकें, वे हम में झाँक सकें हम उनमें झाँक सकें।

सी-9, स्टार होम्स
रोहितनगर, फेस-2
पोस्ट ऑफिस-त्रिलंगा
भोपाल-462039

भारतीय भाषाओं में संस्कृत का अवदान

– कृष्णदत्त पालीवाल

इस संकट काल में जो लोग पश्चिमी चिन्तन, अमेरिकी चिन्तन के उत्तर-आधुनिकतावाद को अस्वीकार करते हैं, क्योंकि वह संस्कृति परम्परा, इतिहास, महाआख्यान, विचार, मिथक आदि सभी के प्रति नकार का दृष्टिकोण रखता है, उनके लिए अपनी परम्परा संस्कृति सभ्यता, इतिहास, भूगोल, मिथक, आख्यान, ज्ञान-कर्म भक्ति के उदगम स्रोतों की अन्र्तयात्रा का ज्ञान सबसे ज्यादा आवश्यक है। अपनी ईमानदार अन्तर्यात्रा में ऐसे लोग पाते हैं कि भारतीय भाषाओं के साहित्य के लिए संस्कृत भाषा साहित्य का अवदान इतना अधिक है कि उस पूरे प्रदेश को आँक पाना एक चुनौती है। इस चुनौती में यह विचार निहित है कि आधुनिक भारतीय भाषाओं का साहित्य प्राचीन साहित्य से गुणात्मक रूप से भिन्न होने पर भी किस रूप में जुड़ा है। अनेक प्राचीन परम्पराओं ने इधर के साहित्य में किन संघर्षों, तनावों को झेलते हुए यह पुनर्नवा रूप प्राप्त किया है। भारतीय भाषाएँ प्राचीन संस्कृति साहित्य की तमाम परम्पराओं, मूल्य-दृष्टियों और ऐतिहासिक प्रक्रियाओं की समस्त उपलब्धियों को आत्मसात करते हुए कैसे आगे बढ़ रही हैं। संस्कृत साहित्य की परम्पराओं-प्रवृत्तियों, पद्धतियों, विचार-बीजों को इतने बड़े पैमाने पर भारतीय भाषाओं में विरासत और प्रभाव प्रेरणा का जैसा जीवन रस मिला है—वैसा इतिहास मानक इतिहास में अभूतपूर्व है।

जातीय-संस्कृति और जातीय अस्मिता की दृष्टि से हमारी सांस्कृतिक परम्पराओं का प्रवाह अविच्छिन्न रहा है। यहाँ परम्परा के तीनों अर्थ मौजूद हैं—रिक्थ, सातत्य और परिवर्तन।

देशी विदेशी आक्रान्ताओं के द्वारा हजार बार रौंदी जाने पर भी हमारी परम्पराएँ मरी नहीं हैं। हाँ, घायल और कमजोर अवश्य हुई हैं। यूरोप-अमेरिका के देश बहुजातीय, बहुभाषी, बहुसांस्कृतिक राष्ट्र की हैसियत से भारत के सामने टिक कहाँ पाते हैं। संस्कृत-साहित्य से जो राष्ट्रीयता का अवदान 'भारत दैट इज इण्डिया' को मिला है वह प्रधान रूप से हमारी वाचिक परम्परा, संस्कृति और इतिहास की देन है। क्योंकि दूसरों पर आक्रमण करके हमने राजनीतिक प्रभुत्व कायम नहीं किए हैं। 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' हमारी संस्कृति का नारा नहीं रहा है। उसमें हमारे विश्वास के मुकम्मल बीज भाव मौजूद रहे हैं। 'हालाँकि आज सबसे ज्यादा संकट संस्कृति परम्परा या स्मृति पर है, क्योंकि उपभोक्तावादी-संस्कृति, बाजार-व्यवस्था से मुनाफा कमाने वाले, मीडिया-विज्ञापन का बहुत शोर

मचाकर मीडिया का नव साम्राज्य स्थापित करने वाले, उत्तर पूँजीवाद के नशे में चूर विकसित राष्ट्र नहीं चाहते कि हमें अपना कुछ भी याद रहे। स्मृति का नाश करके ही हमें 'ग्लोबलाइजेशन' से 'ग्लोबल विलेज' का 'ग्लोबल मैन' बनाया जा सकता है। 'ग्लोबल कल्चर' सभी संस्कृतियों को मिटाकर एक भाषा, एक संस्कृति और एक राष्ट्र का सपना देख रही हैं लेकिन संस्कृत भाषा साहित्य की धरोहर पर केन्द्रित भारतीय संस्कृति अपनी हजारों सालों की परम्पराओं-विश्वासों लोक लयों को खोना नहीं चाहती। इसलिए कि भारतीय संस्कृति के मूल में ऋषि चिन्तन है। ऋषि माने स्रष्टा और द्रष्टा। यह ऋषि ही 'कवि' है। इस कवि मनीषी ने ही इस संस्कृति की सर्जनात्मकता को बरकरार रखा है। इस संस्कृति के निर्माण-सुधार-परिशिष्ट में इस देश के कवियों की सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका रही है। इस देश की संस्कृति से वेद-उपनिषद्, पुराण आरण्यक, रामायण, महाभारत को अलग कर दें तो हमारे साहित्य की आन्तरिक-लय में निहित एकता टूट जाएगी। डॉ. रामविलास शर्मा 'परम्परा का मूल्यांकन' में इस निष्कर्ष पर अन्ततः पहुँचे ही कि किसी भी बहुजातीय राष्ट्र के सामाजिक विकास में कवियों की ऐसी निर्णायक भूमिका नहीं रही, जैसी इस देश में व्यास और वाल्मीकि की है। इसलिए किसी भी देश के लिए परम्परा का मूल्यांकन उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना इस देश के लिए है। व्यास, वाल्मीकि के करोड़ों पाठक पहले भी भारत में थे और आज भी हैं वे केवल अनुवाद में नहीं संस्कृत में पढ़ते हैं। और इस देश में इतने व्यापक पैमाने का आदान-प्रदान होता है कि सुब्रह्मणयम भारती, भाई वीरसिंह, मौलाना हाली, फकीर मोहन सेनापति, माइकेल मधुसूदन और रवीन्द्रनाथ, भारतेन्दु, मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, निराला और अज्ञेय सभी में संस्कृत साहित्य की संवेदना, सौन्दर्यबोध, शब्दार्थ का आलोक, नया अर्थ सन्दर्भ और परम्परा का राग-दीप्त तेज चमकता मिलता है। यह संस्कृत साहित्य की क्लासिकल और रोमांटिक संवेदना की शक्ति ही है, जिसने आधुनिक भारतीय भाषाओं के साहित्य के सौन्दर्य चिन्तन को कभी बासी नहीं होने दिया। यही कारण है कि संस्कृत की शक्ति से ही, यहाँ की विभिन्न-भाषाओं (तमिल-तेलुगु-कन्नड़-मलयालम, गुजराती, मराठी, बंगाली आदि) में रचा हुआ साहित्य जातीय सीमाओं का अतिक्रमण कर सारे देश की सम्पत्ति बना है। यह तो हमारा ही देश है जहाँ नितान्त निरक्षर लोग भी वाचिक परम्पराओं की जीवन्तता के कारण वेद-उपनिषद्, बौद्ध जैन, पुराण, ज्योतिष, व्याकरण, धर्म-दर्शन, कालिदास, भवभूति के भाव-लोक में विचरते हैं। यह अलग बात है कि कभी वे गीता श्रवण से जान पाते है, कभी श्रीमद्भागवत से, कभी शंकराचार्य से जागते हैं, कभी रामानन्द से। इसलिए इन दार्शनिकों, भाष्यकारों, सन्तों, भक्तों, योगियों से भारतीय संस्कृति की विशद-भाव-धारा की परम्परा नवीन सर्जनात्मकता पाती रही है।

इतिहास-विधाता के द्वारा भारतीय जातियों का सांस्कृतिक इतिहास इस तरह से गुँथा हुआ है कि विभिन्नताओं में एकता और एकता में विभिन्नताओं के दर्शन होते हैं। इसलिए भारतीय संस्कृति अपनी मिश्र संस्कृतिकला से 'विरुद्धों में सामञ्जस्य' स्थापित करती है और जो विरोधी है, उसे भी अन्य 'अदर' नहीं मानती है। पश्चिमी चिन्तन का व्यक्तिवाद, नस्लवाद, अलगाववाद, फासिस्टी राष्ट्रवाद हमारी संस्कृति की परम्पराओं मे, चाहे वे लोक परम्पराएँ हों या शास्त्र केन्द्रित परम्पराएँ, कहीं

नहीं है। भारत का आज भूगोल और 'सबाल्टर्न' इतिहास से नहीं समझा जा सकता। इसका कारण 'भारत की 'भारतीयता' की अपनी आधुनिकता है। इस आधुनिकता में मानव मुक्ति की चेतना का संघर्ष है। हमारा अपना समाज शास्त्र है, सौन्दर्य शास्त्र है, और अनेक अर्थ-ध्वनियों रूपों-शैलियों का साहित्य है। हम संस्कृत साहित्य के भीतर धँसकर पाते हैं कि अनेक प्रकार के समाज-दर्शन और विचार-दर्शन के अपने प्रत्यय और अवधारणात्मक शब्द हैं। वेदान्त, मीमांसा, सांख्य, न्याय, शैव, शाक्त, वैष्णव, आदि दर्शनों के अपने शब्द भण्डार हैं। लोकायतियों की अपनी चिन्तन भूमि है। और यही चिन्तन धाराएँ हमारे भारतीय मध्ययुगीन साहित्य की जीवन-दृष्टियों को निर्धारित करती हैं। 'प्रस्थान त्रयी' अर्थात् गीता, ब्रह्मसूत्र और उपनिषद् की व्याख्याओं, विमर्शों, भाष्यों, टीकाओं का शब्दार्थ व्यापार ज्ञान-भाव, दर्शन, भाषा के शब्द-भंडार को अकूत भाव सम्पति से सम्पन्न बनाता है। हमारा पूरा दक्षिण उत्तर का भक्ति आन्दोलन हमारी परम्पराओं का क्रान्तिकारी सर्जनात्मक विस्फोट है जिसमें धर्म, जाति, भाषा, रंग की तमाम प्रादेशिकताएँ टिक नहीं पातीं। यह भक्ति आन्दोलन का जन जागरण संस्कृत-साहित्य के कंधों पर बैठकर ही हम तक आया, जिसने भक्ति काव्य, भक्ति-रस, भक्ति-शास्त्र को 'उज्ज्वलनीलमणि' और 'भक्ति रसामृत सिंधु' बनाकर दम लिया है। इस भक्ति का उद्‌गम वेदों-उपनिषदों से हुआ है। यहाँ सिद्धान्त (शब्द) और व्यवहार (अर्थ) की मैत्री का मणिकांचन योग है, जो तर्क से यथार्थ और यथार्थ से सत्य की ओर बढ़ता है। यह नए तरह की आधुनिकता है—जो मानव-मन के भीतर अंधकार का नाश करती है और अन्तर्मन में पावनताजनिक विवेक के दीपक जलाती है। लेकिन भक्ति का यह सच मार्क्सवाद की एकांगी भौतिक आर्थिक मानदण्डी दृष्टि से नहीं पाया जा सकता है। भक्ति, धर्म, अध्यात्म और संस्कृत भाषा का निषेध करने वाला मार्क्सवाद, सेकुलरवाद, आधुनिकतावाद हमारी परम्परा-संस्कृति-सौन्दर्य को नापने का प्रतिमान नहीं हो सकता।

भारतीय सांस्कृतिक-परम्पराओं को हमारे इतिहास से ज्यादा भूगोल ने तय किया है। बाहरी आक्रमण और बाहरी सभ्यताएँ दोनों इस भूगोल से जुड़े हैं। सिन्धुगंगा के मैदान और कावेरी के क्षेत्र इन दो केन्दों ने भारतीय राजनीति, परम्परा, दर्शन तथा संस्कृति को एक नया सन्दर्भ दिया है। हूण, शक, मंगोल, तुर्क आदि के आक्रमण उत्तर से पूर्व की ओर होते रहे। कृष्णा, कावेरी, नर्मदा, गोदावरी, ताप्ती, गंगा, जमुना, सोनभद्र का अपना इतिहास भूगोल रहा है। हमारी नदियों को पुराण पुरुष की नाड़ियाँ कहा गया है और इन नाड़ियां में ही संस्कृति का प्रवाह प्रवाहित रहा है। काबेरी, गंगा ही कुरु पांचाल धुरी है। इसी धुरी से सम्बद्ध है, पल्लव-सातवाहन धुरी। इसी धुरी में में अनेक सांस्कृतिक आन्दोलन पनपे हैं। मौर्य, कण्व, भारशिव, गुप्त, तुगलक-खिजली, मुगल-पूरा उत्तर भारत गंगा घाटी पर केन्द्रित रहा। इसी से एक प्रतीक उभरा-गंगा-यमुना तोरण। काबेरी का क्षेत्र द्रविड़ सभ्यता एवं संस्कृति का केन्द्र रहा। पल्लव-और चोलों के दल दक्षिण एशिया की ओर बढ़े। भूगोल का यह महान् संकल्प ही कुरु पांचाल धुरी (महाभारत-युग) में बना। कहना होगा कि दो महान् भौगोलिक धुरियाँ रही हैं— गंगा-यमुना घाटी तथा कावेरी-कृष्णा के मैदान। इन धुरियों में प्राचीन भारतीय संस्कृति और संस्कृत भाषा का पाठ मौजूद है। इस एकता का मुकुट-नायक है हिमालय। भारत की पूरी कला,

साहित्य, मिथकगाथा, राजनीति, तपस्या-दर्शन, शिव-पार्वती से जुड़ा हिमालय हमारे जातीय-अवचेतन में 'देवआत्मा' है। हमारा प्राचीन भूगोल 'पुराणों' में निहित है। सृष्टिक्रम, काल, द्वीप, तीर्थ, पर्वत, नदियों का सांस्कृतिक संगम पुराणों में खास सन्दर्भ के साथ मौजूद है। हमारे मिथकीय भूगोल का गंगा, गौ, धर्म-और हिमालय-प्राण रहा है। इसी मिथिकीय-भूगोल का एक दरवाजा संस्कृत की ओर खुलता है। एक व्यापक-प्रवाह है, संस्कृत-धारा। इसी में सांस्कृतिक प्रतीकवाद उभरा, जिसमें शिव की धारणा ने द्रविड़ और आर्य सांस्कृतिक प्रतीकों-मिथकों आख्यानों को मिलाया। राम और कृष्ण को लेकर भक्ति और अवतारवाद की महत्व प्रतिष्ठा हुई। विष्णु के मिथक का इतना विस्तार हुआ कि वे शेष नाग के सहस्त्र फनों की छाया में और शेष-शैय्या पर लेटे हुए मिले। कहते हैं कि विष्णु का मिथक नाविकों-सपातियों की देन है और यही मिथक दक्षिण एशिया में राम-कृष्ण-बुद्ध बनकर जगमगाया। इसी से आद्य शक्ति, महा-मायादेवी-लक्ष्मी-सरस्वती-पार्वती के शक्ति तन्त्र में विराट रूप पा गईं।

दरअसल, बाहरी आक्रमणों विशेष रूप से अरबों-तुर्कों और अफगानों के आक्रमणों और फिर बाबर का आक्रमण भारतीय सांस्कृतिक जीवन को बदलने में कारगर सिद्ध हुआ। सांस्कृतिक-सामाजिक राजनीतिक उथल-पुथल के कारण भारतीय भाषाओं के सांस्कृतिक परिदृश्य में एक नया बिंब उभरा है– एक नवीन नवजागरण के साथ। ऐसा प्रवाह उभरा कि बौद्ध चिन्तन लोकधर्म में धंसकर–सिद्ध-नाथ-धाराओं में फूट पड़ा। सन्तों-भक्तों का भक्ति आन्दोलन अखिल भारतीय लय के साथ नवीन सर्जनात्मकता में ढल गया। धर्म, जाति, वंश, दर्शन, भाषा की ऐसी धुरियाँ निर्मित हुई कि दक्षिण-उत्तर के भक्ति-आन्दोलन के प्रमुखनायक महानायक शिव न होकर विष्णु बने। विष्णु के कृष्ण और राम अवतार ने संस्कृत-साहित्य की सर्जनात्मकता को–'गीता' के अवतारवाद से जुड़कर अभिनव रूप दिया। अनेक साहित्य विधाओं में इसका रूप निखरने लगा। मधुरोपासना तथा मर्यादा–उपासना दोनों ने मिलकर लोक भाषाओं, लोक-संस्कृतियों में अनुपम अबाध सौन्दर्य धारण किया। मध्ययुग की अखिल भारतीय भाषा ब्रज भाषा बनी और उसमें ललित कलाओं ने राग रंग पाया। संस्कृत अब 'बहता नीर' का शक्तिशाली प्रवाह बन गई और भारतीय भाषाओं में अपार-भक्ति-साहित्य का सृजन हुआ। भारतीय काव्यशास्त्र, दर्शन, धर्म, ज्योतिष, नीति की न जाने कितनी परम्पराएँ अपनी महिमा में महान् अर्थ पाती गईं हैं। संस्कृत-भाषा और साहित्य की सर्जनात्मक शक्ति के प्रवाह से इस देश में पाँच रिनेसाँ (नवजागरण) सामने आए हैं। इन रिनेसाँओं ने हमारे सांस्कृतिक मिथकशास्त्र, काव्यशास्त्र-नाट्यशास्त्र, दर्शनशास्त्र, धर्मशास्त्र, व्याकरणशास्त्र, नीतिशास्त्र आदि को सर्जनात्मक निष्पत्ति दी। कालिदास में हमने एकाधिक तत्त्वों की सर्जनात्मकता का नया रूप और भाव-सौन्दर्य पाया हैं। इसे ही भारतीय जीवन की 'कालिदासीय-लय' कहा गया है, जो भारतीय-भाषाओं के साहित्य को उनकी सबसे बड़ी देन है।

भारतीय भाषाओं में संस्कृत का अवदान तब तक पूरा अर्थ नहीं पाता है, जब तक हम गन्धर्वों, यक्षों, द्रविड़ों, नागों आदि के कलात्मक अवदान की चर्चा नहीं करते हैं। रवीन्द्रनाथ ने 'भारतवर्ष में इतिहास की धारा' (1920) निबन्ध में इन सबकी चर्चा किया हैं। उनकी इन स्थापनाओं

का असर पूरे भारतीय साहित्य में दिखाई देता है। उन्होंने कहा है कि ''वैष्णव धर्म का आश्रय लेकर जो लोक प्रचलित पौराणिक कथाएँ आर्यसमाज में प्रतिष्ठित हुईं उनमें प्रेम, सौन्दर्य और यौवन की लीला है; प्रलय-पिनाक के स्थान पर बाँसुरी के स्वर हैं, भूत-प्रेत के स्थान पर वहाँ गोपियों का विलास है; वहाँ वृन्दावन का चिर बसन्त और स्वर्ग लोक का चिर ऐश्वर्य है। आभीर सम्प्रदाय प्रचलित कृष्णाकथा वैष्णव धर्म में घुल-मिल गई। इस प्रकार भारतीय भाषाओं के बहुत से साहित्यकारों को भारतीय संस्कृति और साहित्य की परम्परा रवीन्द्रनाथ के माध्यम से मिली। रवीन्द्रनाथ से प्रेरित प्रभावित होकर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी 'कालिदास की लालित्य योजना' लिखने पर विवश हुए। वे भक्ति काव्य और भक्ति-आन्दोलन के अध्याय के दौरान एक अखिल-भारतीय दृष्टि की खोज में प्रवृत्त हुए और पाया कि ''हमारी भाषा का पुराना साहित्य प्रान्तीय सीमाओं में बँधा नहीं है। आपको यदि हिन्दी साहित्य का अध्ययन करना है तो उसके पड़ोसी साहित्यों-बंगला, उड़िया, मराठी, गुजराती, नेपाली, आदि के पुराने साहित्य— लिखित और अलिखित—को जाने बिना आप घाटे में रहेंगे। यही बात बंगला, उड़िया, मराठी आदि के पुराने साहित्य के बादे में भी ठीक है। हमारे देश का सांस्कृतिक इतिहास इस मजबूती के साथ अदृश्य काल विधाता के हाथों-सी दिया गया है कि उसे प्रान्तीय सीमाओं में बांधकर सोचा ही नहीं जा सकता।'' मध्ययुगीन और आधुनिक भारतीय-साहित्य के मूल स्रोत संस्कृत साहित्य की सृजन-परम्पराओं में मिलते हैं। भारतीय-साहित्य की प्राणधारा में संस्कृत की न जाने कितनी अन्तर्धाराओं का प्रवाह निरन्तर प्रवाहित रहा है। इन प्रवाहों का उत्तमांश भक्ति आन्दोलन में मिलता है।

संस्कृत भाषा का प्राचीनतम साहित्यिक रूप ऋग्वेद में उपलब्ध है। ऋग्वेद की भाषा की एकरूपता नहीं है, इसका कारण है इस विशालकाय ग्रंथ की रचना में अनेक ऋषियों का समय-समय पर योगदान। ऋग्वेद के अतिरिक्त अन्य वेदों (सामवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद), ब्राह्मणग्रंथों, प्राचीन उपनिषदों एवं सूत्रग्रंथों की भाषा वैदिक भाषा कही जाने पर भी ऋग्वेद की भाषा से भिन्न दिखाई देती है। इस भाषा की शुद्धता के लिए पाणिनि जैसे वैयाकरणों ने इस भाषा का संस्कार किया। यह संस्कारित भाषा संस्कृत कहलाई। पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' पर कात्यायन ने 'वार्तिक ग्रंथ' तथा पतजंलि ने 'महाभाष्य' लिखा। प्राचीन और मध्ययुग की शिक्षा-दीक्षा, दर्शन-विज्ञान, कला-साहित्य की संस्कृति का माध्यम यही संस्कृत भाषा रही। बोलचाल की भाषा को 'प्राकृत' और इसमें निरन्तर परिवर्तन से हिन्दी, बंगाली, पंजाबी, मराठी आदि आधुनिक भाषाओं का विकास हुआ। संस्कृत भाषा के दो रूप है वैदिक संस्कृत, लौकिक संस्कृत। वैदिक संस्कृति का रूप वेदों, संहिताओ, ब्राह्मण ग्रंथों में दृष्टिगत होता है और लौकिक संस्कृत में रामायण, महाभारत, विविध काव्यों, नाटकों की रचनाएँ हैं। साहित्य-निर्माण की दृष्टि से संस्कृत भाषा के विकास की सामान्यताय तीन युगों में श्री वृद्धि होती रही—1. वेदों तथा वैदिक साहित्य का युग, 2. स्मृतियों तथा काव्य-नाटकों का युग, 3. भाष्यों तथा विविध रचनाओं का युग। वेद भारतीय धर्म, दर्शन, संस्कृति के मूलाधार हैं। ऋग्वेद के मन्त्रों में विभिन्न देवताओं की स्तुति है। प्रकृति की अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा आदि शक्तियों के अनेक मन्त्र

हैं। यहाँ देवताओं में इन्द्र, वरुण, सोम, सविता, रुद्र और विष्णु प्रधान हैं। ऋग्वेद के सूक्तों का सम्बन्ध यज्ञों से हैं। कुछ सूक्तों तथा मन्त्रों में दार्शनिक विवेचन हैं जैसे—पुरुष-सूक्त, नासदीय-सूक्त, हिरण्यगर्भ सूक्त आदि। युजर्वेद का अधिकांश भाग गद्य में है और मन्त्र भाग पद्य में है। विविध यज्ञों के अनुष्ठान के विस्तृत विधान हैं। सामवेद में यज्ञ के समय गाए जाने वाले छन्दोबद्ध मन्त्र हैं। उन मन्त्रों का संग्रह उद्‌गाता ने किया जो यज्ञानुष्ठान के समय इन मन्त्रों को विविध स्वरों में गाता था। उसके अधिकांश मन्त्र ऋग्वेद से लिए गए हैं। सामवेद संहिता के आज दो भाग मौजूद हैं। इस सामवेद का परम्परा में इतना आदर रहा है कि भगवान कृष्ण ने 'गीता' में कहा है—'वेदानां सामवेदोऽस्मि'। फिर तीन वेदों के साथ आया अथर्ववेद और इसका सम्बन्ध लौकिक जीवन से है। विभिन्न रोगों के निवारण के लिए, शत्रुओं पर विजय पाने के लिए, भूत-प्रेतों के विनाश के लिए, जादू-टोना, मारण, मोहन, उच्चाटन आदि से जुड़े मन्त्र हैं। यहाँ औषधियों का अनेक स्थलों पर वर्णन है। आरम्भ में वेद मौखिक परम्परा में रहे और कालान्तर में इनका संकलन हुआ। ये संकलन 'संहिता' कहलाए। चार वेदों के अतिरिक्त यज्ञ के कर्मकाण्ड की व्याख्या में निमग्न ब्राह्मण ग्रंथ आए। ब्राह्मण ग्रंथों के बाद आए आरण्यक। इनकी संख्या बहुत है। यज्ञवाद में पशु-बलि का आरम्भ हुआ जिसका विरोध एक नए अहिंसावादी चिन्तन को जन्म देकर ही रुका है।

यज्ञों में वेदों का गायन होता था। पाठ-भेद से विकृति आ जाती थी। कभी-कभार पाठ और गायन की विविधता अशुद्धियों से भर जाती थी। पठन और गायन की विविधता में व्यवस्था लाने के लिए जो शास्त्र उत्पन्न हुए, उन्हें वेदांग कहा गया। इनका सम्बन्ध गायन, उच्चारण एवं अर्थ-बोध से है। इस प्रकार छह शास्त्र आए— 1. शिक्षा 2. छन्द 3. निरुक्त 4. व्याकरण 5. ज्योतिष 6. कल्पसूत्र।

इन वेदांगों के बाद आए उपनिषद। इनकी संख्या एक सौ आठ मानी जाती है। प्रधान उपनिषद वे माने गए जिनकी व्याख्या शंकराचार्य की है—ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुंडक, मांडुक्य, तैत्तरीय, ऐतरेय, छन्दोग्य, वृहदारण्यक आदि। श्री रामानुजाचार्य ने इन उपनिषदों की टीका तो नहीं की, लेकिन इनका उल्लेख किया है। यहाँ प्रकृति के रूपों से बहुदेववाद सामने आया। उपनिषदों की चिन्तन धारा ने भारत के मध्ययुगीन और आधुनिक साहित्य को प्रेरित प्रभावित किया। उपनिषदों के अद्वैतवाद ने श्रीरामानुज से लेकर रामान्द तक को भक्ति आन्दोलन में नई दृष्टि दी है। मूल बात यह कि भारतीय साहित्य और चिन्तन में अनेक नवजागरण हुए और इन नवजागरणों ने कला, दर्शन, साहित्य, समाज, परम्पराओं में कभी थकान नहीं आने दी। इस तरह प्रथम भारतीय पुनर्जागरण उपनिषद काल में हुआ। जिसका प्रभाव ब्रह्मसमाज, आर्य समाज, विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ, तुलसीदास, निराला आदि पर स्पष्ट परिलक्षित होता है।

जैन और बौद्ध धर्म के भीतर से वैदिक धर्म के खिलाफ विद्रोह फूट पड़ा। उपनिषदों ने ही यज्ञ को गौण स्थान दिया। ई.पू. छठी शताब्दी में भारत भीतर से वैचारिक बेचैनी को लेकर खौल उठा। श्रमणों ने वैदिक यज्ञ को निरर्थक ठहराया। देश में वेद निपन्दक नास्तिक पैदा हुए। जबकि उपनिषद् पराविद्य या आत्मविद्या को प्रतिपाद्य बनाते रहे। लोकायती विद्वानों चार्वाक तथा वृहस्पति ने, वेदों की

निन्दा की। जैनों, बौद्धों ने अहिंसा की परम्परा का उद्घोष किया। अहिंसा के बीज वेदों में हैं और यह प्राग्वैदिक परम्परा थी। लेकिन बौद्धिक अहिंसा जैन-दर्शन का अनेकान्त है। बौद्ध धर्म, ने कर्मकाण्ड, हिंसायुक्त यज्ञ और पुरोहितवाद के विरुद्ध आवाज बुलन्द की है। साथ ही संस्कृत को छोड़कर जनता की भाषा पालि को गले लगाया और 'अप्प दीपो भव' का उपदेश देकर जाति-पाँति को नहीं माना। वे वैदिक 'मोक्ष' को त्यागकर निर्वाण तप की ओर बढ़े। इस तरह हिन्दुत्व का बौद्धीकरण हुआ। बौद्ध-धर्म के भीतर से ही महायान सम्प्रदाय का विकास हुआ जो तिब्बत, चीन, कोरिया, तथा जापान जैसे देशों में फैला तथा पूरे विश्व के चिन्तन पर बौद्ध चिन्तन की छाप पड़ी है। महायान के दार्शनिक आचार्य नागार्जुन हुए, जिन्होंने माध्यमिक करिका नाम से अनुपम दर्शन की रचना की। कहते हैं कि नागार्जुन का यह दर्शन न होता तो भारत में शंकराचार्य का अद्वैत-मत भी नहीं होता। शंकर पर बौद्धमत का इतना प्रभाव है कि परम्परा शंकर को प्रच्छन्न बौद्ध मानती रही है। बहुत बड़ी क्रान्ति यह भी है कि बुद्ध ने इस देश में जाति-प्रथा को चुनौती दी तथा सभी वर्णों और स्त्रियों को समान अधिकार दिए। महायान विकृत होकर मंत्रयान और वज्रयान बनने लगा तब भी यह क्रान्ति जारी रही। भारतीय मध्यकाल के निर्गुण सन्तों ने बौद्ध-धर्म को लोक-धर्म बनाकर जातिवाद का विरोध किया। अगर बुद्ध न होते तो इस देश में कबीर, नानक, दादू, सुन्दरदास भी नहीं होते।

विद्वानों का एक वर्ग मानता है कि गीता उपनिषद् रही होगी—फिर बौद्ध-धर्म को पचाकर गीता ने यह नया रूप धारण किया। इसी शक्ति से गीता गृहस्थों का उपनिषद् बनी और पूरा भारतीय साहित्य गीता का न जाने कितने रूपों में ऋणी है। गीता की रचना के बाद हिन्दू धर्म के सभी व्याख्याता गीता का भाष्य करते रहे जिनमें तिलक तथा गाँधी तक आते हैं।

दूसरा भारतीय पुनर्जागरण 'रामायण' और 'महाभारत' काल में हुआ। मौर्य साम्राज्य के अवशेषों पर पुष्यमित्र द्वारा स्थापित शुंग-राजवंश काल में असीम सर्जनात्मकता का विस्तार हुआ। यह समय ई.पू. 200 से ई.पू. 300 शताब्दी तक है—जिसमें विदेशी यवनों, शकों, पल्लवों, कुषाणों, शुंगो, आन्ध्र-सातवाहनों के शासन काल में भारतीय प्रतिभा का विदेशों से सम्पर्क हुआ। इस सम्पर्क से भारतीय साहित्य संस्कृति, कला-दर्शन, काव्यशास्त्र आदि में अभूतपूर्व परिवर्तन हुए। इस काल में 'रामायण', 'महाभारत' ही नहीं, मनु और याज्ञवलक्य की स्मृतियाँ, उपनिषद् तथा पुराण इस युग में रचे गए तथा अवतारवाद के सिद्धान्त की दृढ़ प्रतिष्ठा हुई। ब्रह्मा-विष्णु-महेश का त्रिमूर्ति-सिद्धान्त एक देव से दूसरे देव के नजदीक आया। वर्णाश्रम धर्म, पुनर्जन्म, ज्ञान-भक्ति-कर्म का त्रिमार्ग, देव-पूजा, तीर्थव्रत के विधान सक्रिय हुए। इसी युग में भारतीय बनिया व्यापारी जावा, सुमात्रा, चम्पा, मलय, बोर्नियो, हिंदचीन आदि की ओर गए और वहाँ बस कर बृहत्तर भारत की स्थापना की। वहाँ भरहुत और मथुरा की कला-शैलियों का विकास किया। राम-सीता, कृष्ण-द्रौपदी, भीम धर्मराज की कथाओं का गहरा बीजारोपण हुआ। सम्राट कनिष्क ने अश्वघोष से बौद्ध धर्म की दीक्षा ली और पश्चिमोत्तर-भारत में यूनानी, मध्य एशियाई कलाओं का विकास-विस्तार हुआ। गांधार-शिल्प के साथ अजंता की गुफाएँ, मथुरा, अमरावती के वास्तु-विधान निर्मित हुए। कला की यक्षणियों ने यक्षों की कला का

मनोरम सौन्दर्य प्रस्तुत किया। यक्ष-यक्षणियों के सौन्दर्यशास्त्र की परम्परा में वात्स्यायन का 'कामशास्त्र' निर्मित हुआ। इसी परम्परा में आर्यासप्तशती, गाथा सप्तशती, अमरुकशतक, आदि का कला-चिन्तन नई निष्पत्तियों के साथ आया भारतीय साहित्य के रीतिकाल में नायक-नायिका भेद, अलंकरण तथा नख शिख-वर्णन का नया लोक ही सामने आया। कुषाण-शक्ति के अवसान के बाद गुप्तकाल का गुप्त-साम्राज्य कला, साहित्य, संगीत तथा अन्य शास्त्रों के लिए वरदान सिद्ध हुआ। इस काल में पाटलिपुत्र, उज्जयिनी, देवगढ़, सारनाथ, अजंता की गुफाओं में एक नया सौन्दर्य शास्त्र जन्म लेता है। भागवत धर्म और अवतारवाद ने कला-साहित्य-सृजन में चमत्कार पैदा किए और नारी कला के केन्द्र में आ गई। साहित्य में कालिदास से लेकर श्रीहर्ष तक शृंगार की मांसल कला का जादू चलता रहा।

हर्षवर्धन के अवसान के पश्चात् 600ई. से 1200 तक का समय संकट-संक्रान्ति का युग रहा। इस युग ने कुमारिल भट्ट तथा शंकराचार्य जैसे वेदान्तियों को जन्म दिया। इसी शताब्दी में दक्षिण भारत में इस देश का सबसे महान् जन जागरण युक्त 'भक्ति आन्दोलन' का प्रवाह उमड़ता रहा। यायावर तमिल आलवार-सन्तों-गायकों ने भक्ति के द्वारा खोल दिए। इन आलवारों—नायमारों के साथ दार्शनिकों-आचार्यों का युग आया, जिनमें रामानुजाचार्य का नाम शिखर पर रहा है। साहित्य-शास्त्र के क्षेत्र में भामह, दण्डी, मम्मट, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त और राजशेखर का यही युग है। आचार्य हजारीप्रसाद 'द्विवेदी' ने 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में इस युग को 'टीका-युग' नाम दिया है।

संस्कृत साहित्य के महान् रचनाकारों ने ऐसे उदात्त काव्यों का सृजन किया जो परवर्ती संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश तथा आधुनिक भारतीय भाषाओं के कवियों के लिए प्रेरणा स्रोत बने रहे हैं। इन काव्यों को 'उपजीव्य काव्य' कहा भी गया है। संस्कृत में वाल्मीकि रामायण तथा व्यास रचित महाभारत ने भारतीय साहित्य पर गहरा— बहुत गहरा—प्रभाव डाला। भारतीय परम्परा 'रामायण' को 'आदिकाव्य' तथा 'महाभारत' को 'इतिहास', 'आख्यान', 'मिथक भंडार' (भारत सावित्री कथा) मानती रही है। 'महाभारत' के लिए तो लोकमान्यता रही है कि जो भारत में है वह सब कुछ महाभारत में है। महाभारत उज्जवल चरित्रों के साथ ज्ञान और मिथक कला का विश्व कोश है। अनगिनत आख्यानों में 'रामायण', 'महाभारत' का रूप ले लिया, इतिहास पुराण एक रूप हो गए। 'रामायण', 'महाभारत' रूप में आने से पूर्व ही इन महाकाव्यों के आख्यान जनता में प्रचलित थे। इन सभी पुराण आख्यानों में धर्म, दर्शन, राजनीति, इतिहास, युद्ध, नैतिकता आदि सभी विषयों की व्यंजना है। रामकथा की सुदीर्घ मौलिक परम्परा को वाल्मीकि ने 'रामायण' का रूप दिया। 'रामायण' और 'महाभारत' दोनों ही युद्ध—केन्द्रित कृतियाँ हैं। लेकिन इन दोनों ने संस्कृत में भास, कालिदास, भारवि, माघ, भवभूति और बाणभट्ट जैसे रचनाकारों में नाटकों, काव्यों के मूल स्रोत बनकर पुनर्जन्म लिया। परवर्ती-परम्पराओं को रामायण-महाभारत ने इतना प्रेरित प्रभावित किया कि समस्त भारतीय-संस्कृति, कला, दर्शन, साहित्य, इनकी छाया में ही फूला फला है।

डॉ. रामविलास शर्मा ने 'हिन्दी जाति के सांस्कृति विकास की रूपरेखा' शीर्षक निबन्ध में ध्यान दिलाया है कि प्राचीन भारत में भरत, कोसल और मगध, इन तीन गण समाजों की, निर्णायक भूमिका थी। उनमें भरतगण का सम्बन्ध प्राचीन वैदिक भाषा और संस्कृति से है। जिन कवियों ने वेद मन्त्रों की रचना की है, उनमें से अधिकांश भरतगण से सम्बद्ध थे। भरतगण पुरुगण से मिल गए तब कुरुगण का निर्माण हुआ। इस कुरुगण से जुड़ा युद्ध महाभारत कहलाया। भरतगण यज्ञ संस्कृति का उपासक था— मगध गण इसका विरोधी। वेद-विरोधी मत-मतान्तरों का प्रधान केन्द्र मगध था। इसीलिए मगध की आधार भूमि से ही जैन और बौद्ध धर्मों का प्रवर्तन हुआ। और भरतगणों के बीच में पड़ते थे—कोसल। ये लोग वेद विरोधी परम्पराओं में नहीं थे। मुख्य रूप से कवि एवं कविता के सहृदय जन थे। महाभारत-रामायण का निकट सम्बन्ध कोसल गण से है। 'महाभारत' में आरम्भ में नैमिषारण्य में शौनक ऋषि दीर्घकालीन कथासूत्र चलाते हैं। वहाँ पुराणों के कथा-वाचक विद्वान वाजश्रवा सोति पहुँचते हैं। उन्हें तपस्वीगण कथा सुनने के लिए घेर लेते हैं। वे व्यास रचित 'महाभारत' की कथा कहते हैं। आदि कवि वाल्मीकि तमसा के किनारे रहते हैं और नारद से कहते हैं कि अबतक देवताओं पर काव्य रचा गया। मैं काव्य में मनुष्य को अमर करुँगा। स्पष्ट है कि वाल्मीकि उस परम्परा का प्रवर्तन कर रहे थे जिसके केन्द्र में मानव है।

'महाभारत' में भारत राष्ट्र की साकार कल्पना कविता में पूरी हुई है। इसमें सभी को एक सूत्र में बाँधने का प्रयास है। यह नैमिषारण्य की परम्परा है जो काव्य, पुराण, इतिहास, कथावाचन के द्वारा इस देश को एकसूत्र में बाँधती है। इस पौराणिक परम्परा का आज भी अपना गौरव है।

''भारतीय भाषाओं में आगे चलकर जिस साहित्य का विकास हुआ, उस पर जिन दो प्राचीन ग्रंथों का प्रभाव सबसे अधिक पड़ा, वे रामायण और महाभारत हैं। इन दो महाकाव्यों के बिना भारतीय साहित्य की स्थिति क्या होती, इसकी कल्पना करना कठिन है। वैदिक काव्य की परम्परा वेदों के साथ ही समाप्त हो गई। आधुनिक भाषाओं के काव्य पर उसका प्रभाव नगण्य है। किन्तु इन दोनों महाकाव्यों का प्रभाव निरन्तर गहरा होता गया है। महाभारत और पुराण भारतीय राष्ट्रीयता के आदि स्रोत हैं, महाभारत और रामायण समस्त भारतीय काव्य के आदि स्रोत हैं।'' यह प्रभाव आधुनिक भाषाओं के साहित्य पर बहुत गहरे तक पड़ा है। इसका कारण यह भी है कि संस्कृत के प्रमुख केन्द्र उन्हीं जनपदों में रहे हैं जिनसे आगे चलकर हिन्दी प्रदेश बना है। कालिदास का उज्जयिनी तथा भवभूति का कन्नौज से संबंध विवादस्पद नहीं है। कन्नौज भारत का प्रधान सांस्कृतिक केन्द्र था और दक्षिण भारत में भी संस्कृत के अनेक केन्द्र थे। संस्कृत के माध्यम से यह समस्त देश एक ही सांस्कृतिक केन्द्र में बँध गया था। यह संस्कृति ही समय के प्रवाह में व्यापक स्तर पर लोक-संस्कृति बनी और इसके प्रसार को लोक-भाषाओं ने ही सम्भव बनाया। बाहरी आक्रान्ताओं को भी इस मध्य देश ने ही झेला और वे आक्रान्ता भी बसने पर यहाँ की लोक भाषाओं में रम गए। तुर्क आक्रान्ताओं के आक्रमण हिन्दी प्रदेशों पर ही हुए। यहाँ के लोगों ने धर्म परिवर्तन तो किया लेकिन वे भाषा नहीं बदल सके।

भारतीय समाज में तीव्र परिवर्तनों का दौर बारहवीं तेरहवीं शताब्दी में शुरु हुआ। आगरा और मुर्शिदाबाद व्यापारिक केन्द्रों के रूप में प्रधान स्थान पा गए और कुछ समय बाद अंग्रेज व्यापारी आया। पुर्तगाली, फ्रान्सीसी तथा अंग्रेज व्यापारी यहाँ लड़े जूझे और अन्त में अंग्रेज कामयाब रहे। लोक-संस्कृति की दमित भावनाओं ने निर्गुण सन्तों के रूप में अपने को व्यक्त किया। कबीर ने ऊँच-नीच के भेदभाव, धार्मिक विद्वेष, जाति-पाँत, मुल्ला-पंडित, शैव-शक्ति की कठोर आलोचना की। हालाँकि उन पर रामानन्द का रंग चढ़ा था और रामानन्द जाति-पाँति विरोधी भक्ति आन्दोलन के मेरुदण्ड थे। रामानन्द का प्रभाव निर्गुण कबीर और सगुण तुलसीदास दोनों पर पड़ा। संस्कृताचार्य रामानन्द ने देशी-भाषाओं में साहित्य रचना का अभियान चलाया और उन्होंने स्वयं भजन और पद लिखे। जनदेवता हनुमान की आरती लिखी और गाई। जनता को जन रक्षक राम का महत्त्व समझाया। उत्तरी भारत की राम-काव्य परम्परा पर रामानन्द का गहरा प्रभाव पड़ा है और यह प्रभाव मैथिलीशरण गुप्त, निराला, नवीन जी से लेकर नई कविता में जगदीश गुप्त की 'शबरी' तक में देखा जा सकता है।

इस युग में अपभ्रंशो का रूप स्थिर हो जाने के कारण शौरसेनी, मागधी अर्द्धमागधी आदि भाषाएँ अपने स्वतन्त्र साहित्य की ओर अभिमुख होती हैं। इस जागरण-काल में ब्रज और अवधी ने संस्कृत से तमाम शब्द सम्पदा एवं शैलियों को लिया। पूरा पाण्डित्य लोक-भाषा, लोक-संस्कृति एवं लोकधर्म की ओर झुक गया।

सोलहवीं शताब्दी के अन्त में सूफ़ी सन्तों ने प्रेम-रस का प्रवाह बढ़ाया तो अन्य सन्तों-भक्तों-कवियों ने भक्ति-रस से ओत-प्रोत साहित्य का सृजन किया। लोक-भाषाओं की सहज शक्ति से कबीर-जायसी, सूर-मीरा, तुलसी, रहीम-रसखान—सभी कवि रामानन्द और चैतन्य की रुढ़ियों से मुक्ति देनेवाली भक्ति आन्दोलन की लय में निमग्न हो गए। लोक भाषाओं ने केन्द्र पर कब्जा किया। भारतीय चिन्तन का गढ़ दक्षिण देश बना—यह विचार प्रो. हिमायूँ कबीर ने 'अवर हैरिटेज' पुस्तक में जोरदार तर्कों से प्रस्तुत किया है। शंकर, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य, बल्लभाचार्य सबके सब दक्षिण के थे। शंकर के अद्वैत में भक्ति को जगह नहीं थी, लेकिन रामानुजाचार्य के श्री सम्प्रदाय विशिष्टाद्वैत में भक्ति और विष्णु तथा विष्णु रूप राम को पूरी जगह थी। यहाँ शंकर विरोध ऐसा पनपा कि चारों आचार्यों ने शंकराचार्य के मायावाद का विरोध किया। दक्षिण के आलवार और नायनार सन्त कवियों ने ऐसी भूमि तैयार की जिसमें भक्ति आन्दोलन ने अनगिनत सर्जना के बीज-बोए। विष्णु एवं शिव के प्रेमगान—नर-नारी गा उठे! उत्तरी भारत में रामानन्दी और वल्लभाचार्यी सन्तों-भक्तों को यह परम्परा आलवारों से मिली। रामानुज, वल्लभ, चैतन्य एवं रामानन्द ने प्रेम को परम पुरुषार्थ माना तथा घोषित किया कि भगवान को पाने के लिए उच्चवंश का होना आवश्यक नहीं है। 'भागवत' में भक्ति का जन्म द्रविड़ देश में घोषित तौर पर मानने के साथ प्रेम-स्वरूपा भक्ति का गायन किया। सन्त समाज ने कहा कि 'भक्ति द्राविड़ ऊपजी लाए रामानन्द। परगट किया कबीर ने सात द्वीप नव खण्ड।' भागवत में स्वयं भक्ति नारद से कहती है—'उत्पन्ना द्राविड़े याहं' अर्थात् द्राविड़ देश में जन्मी, कर्नाटक में वृद्धि को प्राप्त हुई, कुछ समय महाराष्ट्र में रही

और गुजरात में पहुँचकर जीर्ण हो गई। भागवत-पुराण की रचना आठवीं-नवीं शताब्दी में हुई—किन्तु भक्ति की धारा वेदों उपनिषदों-पुराणों से कभी मन्द कभी तेज गति से आ रही थी। 'महाभारत' गीता में भक्ति का प्रतिपादन हुआ है और विष्णु पुराण, देवी भागवत पुराण में भी। प्रपत्ति और शरणागति के भावों के भण्डार हैं—हमारे पुराण। भक्ति आन्दोलन के सन्तों-कवियों, भक्तों, आचार्यों ने इनसे अपार शक्ति प्राप्त की है। पाँचरात्र आगम में गोपाल कृष्ण और वासुदेव का एकाकार होना एक बड़ी अन्तर्ध्वनि का संकेत है। दिनकर जी ने 'संस्कृति के चार अध्याय' में ठीक कहा है कि उपनिषदों की बौद्धिकता से जिन्हें सन्तोष नहीं था, वे वासुदेव की उपासना करने लगे।' (पृ. 367) फिर गीता वह प्राचीनतम ग्रंथ है, जिसमें भारत की वैदिक, प्राग्वैदिक धाराएँ—निगम-आगम एक स्थल पर मिल गए।

कृष्णोपासना और रामोपासना का पहले-पहल आरम्भ आलवारों से ही हुआ। तमिल में रामायण पहले लिखी गई हिन्दी में बाद में आई। रामानन्द दक्षिण से उत्तर में रामोपासना लाए और उनके प्रभाव से कबीर और तुलसीदास 'राम' को लेकर सृजन कर्म में प्रवृत्त हुए। कहते हैं कि रामानन्द ने 'अध्यात्मरामायण' की रचना की जिसका प्रभाव उनकी शिष्य परम्परा पर पड़ा है। कबीर के राम निर्गुण हैं, दशरथ पुत्र नहीं है। तुलसी के राम सगुण ब्रह्म के अवतार हैं। अधर्म का नाश करने के लिए अवतार धारण करते हैं—मानव लीला करते हैं।

संस्कृत साहित्य-चिन्तन की महिमा का ही अवदान है कि हिन्दी गुजराती पंजाबी-मराठी आदि भाषाओं का साहित्य धर्म में प्रवाह में कर्म, ज्ञान और भक्ति को स्थान दे सका। भक्ति का भावात्मक रूप महाभारत और पुराण काल में प्राप्त हुआ। भक्ति का प्रकृत प्रवाह आगे चलकर ऐसा रूप धारण कर उठा कि उसमें हिन्दू मुसलमान दोनों ही आते गए। प्रेम स्वरूप भागवत का ब्रह्म लीला-नायक बनकर रस बरसाने लगा। रामानुजाचार्य का सगुण भक्ति का निरूपण जन-मन को भा गया। गुजरात में मध्वाचार्य ने अपना द्वैतवादी वैष्णव सम्प्रदाय चलाया, जिसकी ओर जनता झुक पड़ी। देश के पूर्वी भाग में जयदेव, चण्डीदास, विद्यापति के कृष्ण-प्रेम-संगीत की धारा ने प्रेम स्वर ऊँचा किया। पन्द्रहवीं शताब्दी में रामानन्द ने विष्णु के अवतार रूप राम की उपासना का मार्ग प्रशस्त किया तो दूसरी ओर वल्लभाचार्य ने प्रेमावतार कृष्ण को लेकर जनता के मन को रस-विभोर कर दिया; निराशा को झाड़कर जीवन जीने की नई चाह पैदा की इस प्रकार कृष्ण काव्य और राम-भक्ति की परम्पराओं ने लोक संस्कृति के सौन्दर्य को उजागर किया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दू-मुसलमानों के हृदय को जोड़ने वाले मार्ग को 'सामान्य भक्तिार्ग' ठीक ही कहा है। वेद-शास्त्र की निन्दा करने वाले कनफटे योगियों को इन भक्ति मार्गियों ने मात देकर जनता में अपने प्रभाव की श्री वृद्धि की। महाराष्ट्र में प्रसिद्ध भक्त नामदेव ने हिन्दू-मुसलमान दोनों के लिए सामान्य भक्ति मार्ग का आभास दिया। ''अतः कबीर ने जिस प्रकार एक निराकार ईश्वर के लिए भारतीय वेदान्त का पल्ला पकड़ा, उसी प्रकार निराकार ईश्वर की भक्ति के लिए सूफ़ियों का प्रेमतत्व लिया और अपना निर्गुयपंथ, बड़ी धूमधाम से निकाला। बात यह थी कि भारतीय साकार और सगुण को लेकर चला था—निर्गुण निराकार ब्रह्म भक्ति या प्रेम का विषय नहीं माना जाता।'' (हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, पृ.67) लोकरक्षा के लिए प्रेम को

लेकर राम और कृष्ण की धाराओं में राम भक्ति-धारा ही प्रवृत्त हुई। वैष्णवों की कृष्ण-भक्ति-धारा ने प्रेम लक्षण भक्ति अपनाया। फलतः राम भक्ति शाखा भक्ति में सर्वांग पूर्ण रही। कबीर ने भारतीय अद्वैतवाद लिया और वैष्णवों से प्रपतित्तवाद-अहिंसावाद।

दक्षिण भारत के अनेक आचार्यों ने अपने मतों का प्रचार उत्तर-भारत में किया। इस दक्षिण-उत्तर के आदान-प्रदान से जो नवीन सांस्कृतिक चेतना पैदा हुई उसका गहरा सम्बन्ध राम भक्ति एवं कृष्ण भक्ति की धारणाओं से है। सूर-तुलसी में यह भक्ति-प्रवाह नया तेज लाया। स्वच्छन्द-प्रेम का प्रवाह सूरदास के गीतों में पैदा हुआ। मीरा के गीत अपनी तमन्यता से देशभर में प्रसिद्ध हुए। दरबारी संगीत परम्परा से अलग हटकर उत्तर-भारत में संगीत-परम्परा में नवजागरण आया। हिन्दी-क्षेत्र में कृष्ण-भक्ति-धारा ने संगीत के क्षेत्र में प्रतिनिधत्व किया। उधर भारतीय जनता की वेदना-यातना आकांक्षा को तुलसीदास ने अपनी सर्जनात्मकता में प्रमुख स्थान दिया। तुलसीदास के समय में अनेक मतों और सम्प्रदायों के बीच संस्कृत भाषा के ज्ञान का विशद् आदान-प्रदान हुआ। तुलसीदास में उपनिषदों से आती हुई विशिष्ट अद्वैत की धारा है कि दक्षिण भारत के भक्ति आन्दोलन की गहरी धमक है। विद्वानों ने शोध से सिद्ध किया है कि तुलसीदास का 'रामचरित मानस' संस्कृत कृतियों की ज्ञानराशि का अस्सी प्रतिशत अनुवाद है। तुलसीदास संस्कृत साहित्य परम्परा में चाहे कालिदास भवभूति भर्तृहरि चाहे कोई हो—वे भूल जाते हैं कि कौन-सी चीज कहाँ से आ रही है। यही हालत केशवदास की 'रामचन्द्रिका' की है। अनेक काव्य धाराएँ, अनेक पद्धतियाँ राम-भक्ति परम्परा में घुल-मिलकर आती हैं। तुलसीदास ब्रजभाषा और अवधी दोनों में रचना करते हैं। उनके जैसा धर्म, दर्शन, साहित्य का साधक इस युग में दूसरा नहीं है। 'नानापुराणनिगमागम तुलसी रघुनाथ गाथा' का भाष्य है कि पूरी संस्कृत साहित्य की परम्परा तुलसी में पुनर्नवा रूप पा जाती है। साथ ही तुलसी के स्मरण में उन भारतीय कवियों का स्मरण हो आता है, जिन्होंने भारतीय भाषाओं में रामकाव्य की रचना की हैं। तमिल के कम्बन, बंगला के कृतिवास, मराठी के रामदास और एकनाथ इसी काव्य परम्परा से जुड़े हैं; इन सभी पर वाल्मीकि का प्रभाव कहीं अधिक है कहीं कम। परन्तु आदि स्रोत वही हैं। संस्कृत में ही अनेक रामकाव्य और रामचरित नाटकों में परिवर्तन के साथ आते रहे हैं—फिर आधुनिक भारतीय भाषाओं में यह प्रक्रिया और आगे बढ़ती है। कृष्ण-काव्य में भागवत का प्रेमप्रवाह अनेक प्रकार से आया—लेकिन तेलुगु के कवियों पर 'महाभारत' छाया रहा। बीसवीं शताब्दी में अनेक भारतीय भाषाओं के कवियों ने महाभारत की कथावस्तु लेकर अपनी सर्जनात्मकता को अभिव्यक्ति प्रदान की है। यह सच है कि भक्ति आन्दोलन के दौरान पुरानी कथाओं को नया रूप, नया अर्थ सन्दर्भ दिया गया है। भक्ति भाव के कम होने पर महाभारत तथा रामायण में मानवतावाद को नए शब्दों से प्रस्तुत किया गया। सूर तुलसी के बाद सामन्त काल के पतन के दौर में रीतिकाल से चमत्कारवाद नायिका भेद का विकृत रूप भर गया। इन रीतिकालीन आचार्यों ने संस्कृत से सिद्धान्त ही नहीं लिए—भाव चमत्कार की पद्धतियाँ प्रविधियाँ भी ग्रहण की हैं। संस्कृत रीति काव्य के समय में सामन्तवर्ग का इतना पतन न हुआ था, जितना कि रीतिकाल के (17-18वीं) समय में। फलतः भारतेन्दु

युग में रीतिकाल की पतित प्रवृत्तियों का विरोध हुआ। तत्पश्चात् महावीर प्रसाद द्विवेदी ने रीतिवाद विरोधी अभियान चलाया। जिसका साथ श्रीधर पाठक, मैथिलीशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी, रामचन्द्र शुक्ल, प्रेमचन्द और निराला से लेकर अज्ञेय तक ने दिया। रीतिवाद का विरोध आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की आलोचना की प्रधान प्रवृत्ति ही बन गई।

छायावाद के कवियों में रीतिवादी काव्यशास्त्र का विरोध पन्त जी ने 'पल्लव' में, निराला ने 'अनामिका' की भूमिका में, महादेवी ने 'दीपशिखा' की भूमिका में तथा प्रसाद ने 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' में किया। यह विरोध इतना प्रबल रहा कि माखनलाल चतुर्वेदी, नवीन, दिनकर, बच्चन, नरेन्द्र शर्मा, भगवती चरण वर्मा, सुमन, मुक्तिबोध, अज्ञेय तक में इसकी गूँज साफ सुनाई दे जाती है। रीतिवादी काव्यशास्त्र के चमत्कारवाद का खण्डन महावीर प्रसाद द्विवेदी, मैथिलीशरण गुप्त, रामचन्द्र शुक्ल ने किया और रस अलंकार की नवीन व्याख्याएँ प्रस्तुत की। प्रगतिवाद ने संस्कृत साहित्य के प्रभाव को बहुत कम ग्रहण किया। वे फ्रान्सीसी राज्य क्रान्ति एवं मार्क्सवाद के चिन्तन से प्रेरणा पाते रहे।

प्रयोगवाद तथा नई कविता के कवि पुनः अपनी संस्कृत साहित्य चिन्तन की परम्परा की और उन्मुख हुए। अज्ञेय ने हजारीप्रसाद द्विवेदी के संस्कृत ज्ञान से लाभ उठाया और रायकृष्णदास से कला की भारतीय परम्परा का अर्थ पाया। कालिदास, वाल्मीकि, भवभूति और राजशेखर का हिन्दी परम्परा में अज्ञेय ने पुनराविष्कार किया।

आधुनिक-काल में आते ही भारतीय-भाषाओं के साहित्य की व्यापक प्रवृत्ति रही है—भारतीय राष्ट्रीय सांस्कृतिक काव्य धारा तथा स्वच्छन्दतावाद। यहाँ यह मानना भारी भूल होगी कि भारत का चौथा नवजागरण अंग्रेजों की देन है। हमारा नवजागरण रामायण, महाभारत, उपनिषद्-भागवत, भक्ति आन्दोलन की समग्रता में अभिव्यक्ति है। हम एशिया के नवजागरण के साथ विश्व नवजागरण से जुड़े किन्तु, वेद-वेदान्त, उपनिषद्, वाल्मीकि रामायण, महाभारत-गीता-भागवत के साथ। भारतीय मानस पर कहीं तो भरतमुनि का 'नाट्यशास्त्र' छाया रहा कहीं कालिदास—भास, भारवि, अश्वघोष, भवभूति और श्रीहर्ष के साथ राजशेखर की 'काव्य-मीमांसा' चेतना। इस दृष्टि से आगे चलकर भारतीय भाषाओं के साहित्य का एक समग्र बिंब निर्मित हुआ, जिसमें राशीकरण से ज्यादा एकीकरण का प्रबल आधार मौजूद है। विनायक कृष्ण गोकाक ने 'राष्ट्रीय साहित्य की अवधारणाः भारतीय साहित्य' में 'राष्ट्रीयता' को 'भारतीयता' का पर्याय माना है—वह भारतीयता जिसमें कालिदास-भवभूति, रवीन्द्रनाथ, सुब्रह्मण्यम् भारती, वीर सिंह, केशवसुत, फकीरमोहन सेनापति, हाली, इकबाल, शिबली-भी एक स्वर से बोलते हैं कि पराधीनता से मुक्ति चाहिए। इस कथन विश्लेषण से गोकाक ने यह स्पष्ट किया कि भिन्न-भिन्न प्रादेशिक भाषाओं में लिखा जाने पर भी भारतीय साहित्य में भारतीय-संस्कृति की भारतीयता का विशिष्ट स्वर है। उधर फ्रेंजर का 'भारत का साहित्यिक इतिहास' जुई रेनो का 'भारतीय साहित्य' गोविल का 'भारतीय साहित्य का इतिहास' भी इसी विचार की पुष्टि करता है।

भारतीय संस्कृति के भीतर अनेक संस्कृतियाँ हैं और भारतीय परम्परा के भीतर अनेक परम्पराएँ हैं—इसलिए यह 'सामासिक' से ज्यादा मिश्र संस्कृति है। आधुनिक भारतीय भाषाओं के साहित्य में ब्रिटिश साम्राज्यवाद का विरोध करने में भारतेन्दु, मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, प्रसाद, निराला, बंगला में माइकेल मधुसूदन दत्त, बंकिमचंन्द्र चटर्जी, रवीन्द्रनाथ टैगोर, क्षितिमोहन सेन, मराठी में केशव सुत, गुजराती में नर्मदाशंकर, उमाशंकर जोशी, उर्दू में शिबली, हाली, इकबाल, पंजाबी में भाईवीर सिंह, तामिल में सुब्रह्ममण्यम भारती, तेलुगु में श्री रंगम श्रीनिवास, रामलिंगम, मलयालम में राघवन पिल्ले, केरलवर्मा, आशानै, वल्लतोल, उल्लूर, कन्नड़ में पुरंदरदास, कनकदास तथा पंजे मंगेश राव, श्री श्री (कंठप्पा) गुडप्पा, पुटप्पा आदि सभी एक भारतीयता की शक्ति लेकर बोले हैं। इन सभी पर कालिदास, व्यास, वाल्मीकि-भवभूति, रवीन्द्रनाथ का प्रभाव बहुत ज्यादा है। कश्मीरी में स्वाधीनता आन्दोलन को लेकर गुलाम अहमद मजदूर, अब्दुल अहद आनार, पं. दयाराम, जिंदा कौल, मिर्जागुलाम हसन वेग का स्वर भारतेन्दु—मैथिलीशरण गुप्त का स्वर रहा है। यह भारतीय भाषाओं में लोक जागरण की व्यापक अभिव्यक्ति हैं। जिसमें व्यक्तिवाद कलावाद, नस्लवाद, अलगाववाद को स्थान नहीं मिलता है। युग-धर्म और स्वधर्म दोनों को एकसाथ रखकर इस कविता ने भारतीय अस्मिता के ऋषिराग को वाणी दी है। यह पूरी कविता गीता का नया भाष्य है—जिसमें अन्याय-दमन के खिलाफ खड़े होने का प्रबल स्वर है। यह स्वर ही भारतीय जीवन की गीता लय है।

भारतीय-भाषाओं के साहित्य में स्वच्छन्दतावाद अत्यन्त व्यापक और समृद्ध धारा है। भारतीय साहित्य में यह प्रवृत्ति स्वाधीनता आन्दोलन की मुक्ति की आकांक्षा से प्रेरित है। भारत के प्रथम स्वाधीनता-संग्राम (1857) के बाद रीतिवाद के बन्धनों से विद्रोह करनेवाले आन्दोलन चले हैं। इस नवजागरण ने उपनिषद्, रामायण-महाभारत-गीता, भागवत, भक्ति-आन्दोलन तथा भारतीय काव्यशास्त्र की प्रश्नाकुल चेतना से शक्ति पाई है। इसलिए हमारे स्वच्छन्दतावाद में पुराने रीतिवाद के विरुद्ध खुला विद्रोह है। भारतीय स्वच्छन्दतावाद पश्चिम के रोमांटिसिज्म से प्रभावित होने पर भी पश्चिम की नकल नहीं है। दोनों ही भिन्न परम्पराओं संस्कृतियों में जन्म सृजन हैं। पश्चिम का स्वच्छन्दतावाद निराशा अवसाद की चादर में लिपटा है। भारत का स्वच्छन्दतावाद कालिदास और स्वाधीनता आन्दोलन में पलने-बढ़ने के कारण शक्ति धारा का विस्फोट है। भारतीय रुढ़वाद रीतिवाद के विरोध में भारतीय स्वच्छन्द-धारा जन्मी है। इस विद्रोही स्वच्छन्दतावाद के मूल में उपनिषद्, गीता, भागवत, रामानन्द, अरविन्द, विवेकानन्द, तिलक, गाँधी और अम्बेडकर के साथ सन्त-परम्परा की अबाधित धारा है। कालिदास-व्यास, वाल्मीकि-भूवभूति की सृजन परम्परा में सांस्कृतिक परम्परा की प्रेम सौन्दर्य दृष्टि है। भारतीय स्वच्छन्दतावाद का प्रथम विस्फोट बंगला में माइकेल मधुसूदन, तरूदत्त, बंकिम, शरद, गिरीश घोष, रवीन्द्रनाथ टैगोर में जयलक्ष्मी की तरह उदित होता है। वाल्मीकि-कालीदास ने रवीन्द्रनाथ में नवकान्त प्रेम-राग पाया। इसलिए शेक्सपियर से कालिदास पराजित नहीं हुए बल्कि जीते। हमारी जातीय स्मृति, जातीय अवचेतन में कालिदास-भवभूति बैठे हैं। हमारे पास कोई अंधकार युग नहीं है न फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति के झूठे नारे। हमारे पास सन्त-भक्ति और काव्य की

परम्परा थी जिसने रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, तिलक और गाँधी बनकर जागृत किया। रवीन्द्रनाथ ने न जाने कालिदास पर कितन कविताएँ रचीं हैं– 'गीताजंलि' का प्रभाव सभी भारतीय भाषाओं के साहित्य पर पड़ा। हिन्दी में स्वच्छन्दतावाद, छायावाद, उत्तर-छायावाद के रूप में श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी, माखनलाल चतुर्वेदी, नवीन, पन्त, प्रसाद, निराला, महादेवी और अज्ञेय आए हैं। निराला और अज्ञेय तुलसीदास से प्रेरणा लेते हैं और तुलसीदास वाल्मीकि कालिदास से। उड़िया का स्वच्छन्दतावाद बंगला से प्रभावित रहा है। उड़िया में फकीर मोहन सेनापति ने रामायण-महाभारत का पद्यानुवाद किया। कालिदास की रंगत राधामोहन दास में है। असमिया में स्वच्छन्दधारा के बीज लक्ष्मी नाथ बेज बरुआ, कमलाकान्त भट्टाचार्य, नीलमणि फुकन आदि में कल्पना के पंख खोलता है। उर्दू में गालिब, आतिश, नसीम, मोमिन, चकवस्त आदि में जोर पकड़ता है। लेकिन इस परम्परा के प्रवर्त्तक हाली हैं।

गुजराती मे स्वच्छन्दतावाद ने सन्त परम्परा से प्रेरणा पाई है। दलपतराय, नर्मदा शंकर, नवलराम, रणछोड़भाई, तुलजाशंकर ने नया पथ दिखाया है। पंजाबी के भाई वीरसिंह पर ब्रजभाषा का गहरा असर है। मोहन सिंह, नानक सिंह, अमृता प्रीतम का अपना लोक संस्कृति राग है। सिंधी पर सूफी रंग है—शाह अब्दुल लतीफ, कवि सचल इसके प्रतीक हैं। कश्मीरी में मजदूर ने गुल और बुलबुल के प्रतीकों से क्रान्ति की है। मराठी में नारायण वामन तिलक, केशवसुत, चिपलूणकर, महात्मा फुले, आगरकर, चिपलणकर कुसमाग्रज ने नवीन क्रान्ति की है। तमिल में वैष्णव-शैव, आलावर, नायनार परम्पराओं ने 'कम्बरामायण' ने सुब्रह्मण्यम भारती परम्परा को दिशा दृष्टि दी है। तेलुगु में नन्नय, कन्नड़ में पुरन्दरदास, मलयालम में केरलवर्मा आदि ने रचना कर्म में स्वच्छन्दता का परिचय दिया है। इन सभी के प्रभाव से संस्कृत परम्परा को नवजीवन, नव यौवन मिला है और इन भारतीय भाषाओं ने संस्कृत से प्रेरित एक नए रोमांटिक साहित्य शास्त्र की महत्व प्रतिष्ठा की है।

यहाँ भारतीय साहित्यशास्त्र की चर्चा के बिना यह अवदान की बात अधूरी रहेगी। भरतमुनि का 'नाट्यशास्त्र' एक पूरी परम्परा की उपलब्धि है जिसमें दृश्यकाव्य के सिद्धान्तों के साथ रस, अलंकार, गुण, दोष, नायक-नायिका का भेद, संगीत आदि का सर्वांगीण विवेचन है। इस ग्रंथ ने पूरी भारतीय नाट्यकाव्य की परम्परा को निरन्तर दिशा एवं दृष्टि दी है। नाट्यशास्त्र के छत्तीस अध्यायों में नाट्योत्पत्ति के साथ नाट्याभिनय का विवेचन है। नाट्यशास्त्र के तीन भाग हैं—सूत्र, भाष्य और कारिका। ब्रह्मा ने ऋग्वेद से पाठ या संवाद, सामवेद से गान, यजुर्वेद से अभिनय तथा अथर्ववेद से रस लेकर नाट्यवेद की रचना की जिसे पंचम वेद कहा गया। भरत को रस सम्प्रदाय का प्रवर्त्तक आचार्य माना गया और भरत सूत्र के व्याख्याकारों में भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टनायक, अभिनवगुप्त आदि ने रस निष्पत्ति की विस्तार से व्याख्या की। इन व्याख्याओं पर इतना वाद-विवाद हुआ है। आज भी भारतीय समीक्षा में ये विवाद आते हैं।

कभी संस्कृत-साहित्य को भारतीय साहित्य का पर्याय माना जाता था। इसलिए भारतीय साहित्य का ऐसा कोई इतिहास अभी तक नहीं लिखा गया, जिसमें प्राचीन के साथ आधुनिक सभी

भाषाओं के साहित्य विकास का आकलन हो। मारिस विण्टनित्स ने 'भारतीय साहित्य का इतिहास' मूलतः जर्मन भाषा में लिखा। इसके तीन खंड हैं 1. वैदिक साहित्य, 2. बौद्ध-जैन साहित्य 3. प्राकृत संस्कृत साहित्य (1922)। दूसरा महत्वपूर्ण ग्रंथ अल्ब्रैण्ट वेबर ने 1952 से जर्मन में 'भारतीय साहित्यि का इतिहास' नाम से लिखा। तीसरा इतिहास फ्रेजर ने 'भारत का साहित्यिक इतिहास', लुई रेनों ने 'भारतीय साहित्य' (फ्रान्सीसी में) और गोबिल ने 'भारतीय साहित्य का इतिहास' लिखा। वेबर ने 'भारतीय आर्यभाषा के साहित्य' के विकास का अध्ययन 'पहले और दूसरे चरण तक' सीमित रखा। वस्तुतः यह वैदिक साहित्य एवं अभिजात्य साहित्य का इतिहास है जिसकी सीमा मध्यकाल तक है। यही ढंग गोविल ने अपनाया। वे मध्य काल से आगे नहीं बढ़े। केवल लुई रेनों ने आधुनिक भारतीय भाषाओं के साथ न्याय करने का प्रयत्न किया। ग्रियर्सन ने तीन विस्तृत लेखों में भारत के प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य पर ध्यान दिया। भक्ति साहित्य के लिए ग्रियर्सन ने राम, कृष्ण, शिव तथा भक्ति के धार्मिक आधार को ग्रहण किया। उन्नीसवीं शताब्दी में नवजागरण के साथ भारत की प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य के इतिहास लिखे गए। जैसे बाबूराम सक्सेना का 'उर्दू साहित्य का इतिहास' या मीनाक्षी सुन्दरम का 'तमिल साहित्य का इतिहास' या आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'। स्वतन्त्रता के बाद राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से डॉ. सुनीतिकुमार चटर्जी ने 'आधुनिक भारत की भाषाएँ और साहित्य' का संकलन किया। कुछ समय बाद प्रो. विनायक कृष्ण गोकाक ने 'आधुनिक भारतीय भाषाओं के साहित्य' शीर्षक से वार्ता संग्रह किया। प्रो. गोकाक ने 'भारतीय साहित्य की अवधारणा' शीर्षक कृति में इस प्रश्न पर विचार किया। 1972 में सुजीव मुखर्जी ने स्फुट लेखों का संग्रह ' भारत के साहित्यिक इतिहास की दिशा में' प्रस्तुत किया। फिर 'तुलनात्मक साहित्य' का अध्ययन शुरु होने पर 'भारतीय साहित्य' पर ध्यान केन्द्रित हुआ। आगरा से प्रकाशित विद्वानों का लेख संग्रह 'इंडियन लिटरेचर' नाम से सामने आया। लेकिन इन सभी में संस्कृत साहित्य के साथ संस्कृत काव्यशास्त्र की चर्चा को छोड़ दिया गया। क्यों छोड़ दिया गया?ताकि भारतीय संस्कृत के अवदान से समग्रता में परिचित न हो सकें।

आज के समय में भारतीय भाषाओं के साहित्य को संस्कृत काव्यशास्त्र के अवदान से परिचित होना जरुरी है। क्योंकि आधुनिक भारतीय भाषाओं के साहित्य पर सर्वाधिक प्रभाव संस्कृत काव्यशास्त्र का पड़ा है और वह हमारी स्थाई निधि है। इस निधि में हमारी परम्परा के पुरखों का चिन्तन तप बोलता मिलता है। इस काव्यशास्त्र में व्याकरणशास्त्र, दर्शनशास्त्र, संगीतशास्त्र, छन्दशास्त्र, ज्योतिशास्त्र आदि का सार-सर्वस्व मौजूद रहा है। हमारी अखण्ड चिन्तना में एक शास्त्र दूसरे शास्त्र का सखा सहचर है। सब सबसे जुड़े हैं और लोक तथा वेद में एवं शास्त्र और लोक में विरोध नहीं है। जब कि प्रमाण हमने लोक को ही माना है क्योंकि शास्त्र भी तो लोक से निकला है। वह लोक पोषण के लिए है— लोक की बाधा के लिए नहीं है।

संस्कृत साहित्य की समृद्ध सर्जनात्मकता ने काव्य-साहित्य के सभी पक्षों पर सूक्ष्य गहन चिन्तन किया है। काव्यांगों का सैद्धान्तिक विवेचन संस्कृत की काव्यशास्त्रीय परम्परा की एक बड़ी

उपलब्धि है। दूसरी तीसरी शताब्दी ई.पू. से लेकर सत्रहवीं शताब्दी तक इस परम्परा का निरन्तर विकास होता रहा।

संस्कृत आचार्यों ने रस, अलंकार, रीति, गुण, वक्रोक्ति ध्वनि, औचित्य का सूक्ष्म विवेचन करते हुए लक्षण ग्रंथ तैयार किए। काव्य-लक्षण, काव्य-हेतु, काव्य प्रयोजन, काव्य की आत्मा, सहृदय की अवधारणा, रस-निष्पत्ति, रस का स्वरूप, साधारणीकरण, करुण-रस का आस्वाद, काव्य के उपादान तथा काव्य से जुड़ी विविध समस्याओं पर मनोयोगपूर्वक हजारों वर्षों तक विवाद संवाद किया। हम भारतीयों ने निरन्तर शंकाएँ उठाई हैं, तर्क किए हैं और बहसों-विवादों से जूझकर साहित्य के मूल्य-मान पाए हैं और काव्य-प्रतिमानों को रुढ़ नहीं होने दिया। उनमें निरन्तर परिष्कार सुधार एवं परिवर्तन किए हैं। संस्कृत में इस शास्त्र ज्ञान को अलंकारशास्त्र, साहित्यशास्त्र, काव्यशास्त्र, काव्य-मीमांसा आदि नाम दिए गए हैं।

वेदों-उपनिषदों में अलंकार, रस, छन्द, गीत, नृत्य, शब्द की काव्य शास्त्रीय चर्चा है। यास्क ने निरुक्त में उपमा के भेदों की बात की है और पाणिनि ने उपमा के उपमित, उपमान, सामान्य धर्म का उल्लेख किया है। राजशेखर ने 'काव्य-मीमांसा' में साहित्य-विधा का विचार प्रस्तुत करते हुए काव्यशास्त्र की उत्पत्ति की एक अद्‌भुत बात को प्रस्तुत किया है कि सर्वप्रथम नटराज शंकर ने ब्रह्मा को काव्यशास्त्र की शिक्षा दी। तदनन्तर ब्रह्मा ने अपने मानस जात अठारह शिष्यों को उसमें दीक्षित किया। इन शिष्यों ने काव्यशास्त्र को अठारह अधिकरण में विभक्त करके प्रत्येक अधिकरण पर एक एक ग्रंथ लिखा। इन अठारह उपदेशकों में से भरत ने रूपक का, नन्दिकेश्वर ने रस का, उपमन्यु ने गुणों का निरूपण किया। नन्दिकेश्वर की काव्य शास्त्रीय कृतियाँ उपलब्ध नहीं हैं किन्तु भरत का 'नाट्‌य शास्त्र' मौजूद है। छठी शताब्दी में भामह ने 'काव्यालंकार', सातवीं शताब्दी में दण्डी ने 'काव्यादर्श', आठवीं शताब्दी में उद्‌भट ने 'काव्यालंकार सार-संग्रह', वामन ने 'काव्यालंकार सूत्र', रुद्रट ने 'काव्यालंकार; नौवीं शताब्दी में', आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक', अभिनवगुप्त ने 'ध्वन्यालोकलोचन' तथा 'नाट्‌यशास्त्र' की टीका 'अभिनव भारती' नाम से की। राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा', कुन्तक ने 'वक्रोक्ति काव्य जीवित', महिम भट्ट ने 'व्यक्ति, विवेक', भोजराज ने 'सरस्वती कंठाभरण' तथा 'शृंगार प्रकाश', धनंजय ने 'दशरूपक', कश्मीरी क्षेमेन्द्र (ग्यारहवीं शताब्दी) ने 'औचित्य विचार चर्चा' तथा 'कविकंठाभरण', मम्मट ने 'काव्यप्रकाश', सय्यक ने 'अलंकार सर्वस्व', हेमचन्द्र ने 'काव्यानुशासन', विश्वनाथ ने 'साहित्य दर्पण' तथा पंडितराज जगन्नाथ ने (सत्रहवीं शताब्दी के मध्यभाग में) 'रस गंगाधर' जैसे अनुपम काव्यशास्त्रीय ग्रंथ की रचना की। काव्यशास्त्र की अखण्ड परम्परा में इतना सुविचारित काव्य चिन्तन विश्व में कहीं नहीं हुआ है। इस चिन्तन ने भारतीय-भाषाओं के साहित्य को साहित्य-दृष्टि का भंडार दे दिया। यहाँ शब्दार्थ में काव्य-चमत्कार भरने वाले तीन कारण हैं—1. धर्म 2. व्यापार 3. व्यंग्य। धर्ममूलक चमत्कार दो प्रकार का होता है : नित्य और अनित्य। नित्य धर्म का प्रतिपादक गुण सम्प्रदाय, रीति सम्प्रदाय कहलाया और अनित्य का 'अलंकार सम्प्रदाय'। शब्द और अर्थ का व्यापार मूलक वैशिष्ट दो प्रकार का होता है वक्रोक्ति तथा

भोजकत्व। वक्रोक्ति समर्थक 'वक्रोक्ति सम्प्रदाय' तथा भोजकत्व व्यापार से काव्य चमत्कार लाने वाला 'रस सम्प्रदाय'। काव्य की आत्मा के प्रश्न को लेकर विविध सम्प्रदाय सामने आए हैं : 1. रस सम्प्रदाय-नन्दिकेश्वर, भरत 2. अलंकार सम्प्रदाय—भामह, दण्डी, रुद्रट 3. रीति सम्प्रदाय— वामन 4. वक्रोक्ति सम्प्रदाय- कुन्तक 5. ध्वनि सम्प्रदाय – आनन्द वर्धन 6. औचित्य सम्प्रदाय— क्षेमेन्द्र। इस परम्परा में यह घोषणा भी हुई कि काव्य की आत्मा ध्वनि है। यह बात विद्वान हमेशा कहते रहे हैं।

यहाँ कहना होगा कि 'भारतीय साहित्य' की भाँति 'भारतीय-समीक्षा' पद भी व्याख्या सापेक्ष है। इस व्याख्या के अनुसार संस्कृत समीक्षा ही भारतीय समीक्षा का पर्याय है। जिसका सिद्धान्त पक्ष समृद्ध है। भारतीय साहित्य दर्शन का प्रतिफलन संस्कृत समीक्षा में उपलब्ध है। यहाँ कवि कर्म और आस्वाद दोनों पर विचार किया गया है। मध्यकाल में संस्कृत समीक्षा-सैद्धान्तिक और व्यावहारिक—दोनों का अनुवाद और रूपान्तर होता रहा तथा रस मूलक भक्ति शास्त्र का विवेचन विस्तार से हुआ। इसी परिकल्पना से 'उज्ज्वलनील-मणि' और 'भक्ति रसामृत सिंधु' में भक्ति-रस शास्त्र का आधार निर्मित हुआ। रीतिकाल के कवियों ने 'काव्य-प्रकाश', 'साहित्य-दर्पण', 'रस मंजरी', 'चन्द्रालोक', 'कुवलयानन्द' का आश्रय लेते हुए संस्कृत काव्यशास्त्र के मान्य सिद्धान्तों-नियमों तथा काव्यांगों का हिन्दी में विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया। आधुनिक काल में प्रायः सभी भाषाओं में समीक्षा के निम्नोक्त रूप मिलते हैं—1. नवीन विधाओं प्रवृत्तियों का रूप विवेचन 2. कालजयी ग्रंथों का विवेचन 3. सिद्धान्त कथन—संस्कृत काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों का निरूपण 4. साहित्य का नवीन परिप्रेक्ष्य में व्याख्या-विमर्श। मराठी में चिपलूणकर, आगरकर ने संस्कृत पाश्चात्य सिद्धान्तों को ध्यान में रखकर कालिदास, भवभूति आदि कवियों पर विचार किया। हिन्दी में रामचन्द्र शुक्ल, गुजराती में आनन्द शंकर, कन्नड़ में श्रीकंटैया, बंगला में प्रथम चौधरी, मलयालम में राजराज वर्मा, तमिल में केशवराय, तेलुगु में सी.आर. रेड्डी आदि समीक्षकों ने संस्कृत काव्यशास्त्र का आधार लेकर शास्त्रीय-समीक्षा के स्वरूप का विकास किया। आज पश्चिमी काव्य सिद्धान्तों से भारतीय समीक्षा की भूमि पाटी जा रही है – लेकिन इस दौर में भी नव्य-समीक्षा संरचनावादी समीक्षा, उत्तर संरचनावादी समीक्षा से आतंकित न होने का विचार-मन्त्र संस्कृत-समीक्षा की ताकत के बल पर ही पा रहा है।

संक्षेप में, इस पूरे विवेचन का निष्कर्ष यह है कि भारतीय भाषाओं के साहित्य को संस्कृत साहित्य का अवदान इतना ज्यादा है कि उसे आँका नहीं जा सकता। केवल हम अपने पुरखों के सांस्कृतिक अवदान पर एक गहरी कृतज्ञता का ही अनुभव कर सकते हैं। हमारी परम्परा की अखण्डता ही चिन्तन प्रवाह के लिए वर्तमान में वरदान सिद्ध हुई है।

द्वारा-रीतारानी पालीवाल
ए-102/3, एस.एफ एस फ्लैट्स
साकेत, नई दिल्ली-110017

हिन्दी भाषा में पारिभाषिक शब्द

– श्री गुलाबराय

हमारी उच्च शिक्षा प्रायः अंग्रेजी भाषा द्वारा होती है। यही हमारे देश में मौलिकता के अभाव का मुख्य कारण है। हर्ष की बात है कि अब उच्च शिक्षा को मातृभाषा द्वारा प्राप्त कराये जाने का उद्योग किया जा रहा है। इस उद्योग में सफलता के लिये पाठकों की रुचि और श्रद्धा के अतिरिक्त उपयुक्त पुस्तकों का वर्तमान होना परमावश्यक है। यथासंभव इस आवश्यकता की पूर्त्ति हो रही है– चारों ओर से भिन्न विषयों पर नई-नई पुस्तकमालायें निकल रही हैं, किन्तु प्राचीन और वर्तमान ज्ञान के विस्तार को देखते हुए, यह परिश्रम पर्याप्त नहीं कहा जा सकता है। कुछ विषयों के ऊपर विशेष ध्यान दिया गया है और कुछ में अभी बिलकुल हाथ भी नहीं लगाया गया है। इस कमी के कई कारण हैं। उनमें पारिभाषिक शब्दों का अभाव एवं अनिश्चयता भी एक है। ऐसी अवस्था में जब कि नये ग्रन्थ लिखें जा रहे हैं और उसके साथ ही नये पारिभाषिक शब्दों का भी निर्माण हो रहा है, उन की निर्माण पद्धति पर विचार कर लेना परमावश्यक है। पारिभाषित शब्दों के संबंध में नीचे लिखी हुई बात मुख्य रूप से विचार योग्य हैं।

(1) पारिभाषिक शब्द किन को कहते हैं ?

(2) प्राचीन पारिभाषिक शब्दों की खोज।

(3) नवीन शब्द किस भाषा के आधार पर बनाये जावें और वह किस प्रकार के हों?

(4) प्राचीन शब्दों का संग्रह एवं आधुनिक शब्दों के निर्माण के साधन।

(5) इस विषय में हिन्दी लेखकों, हिन्दी साहित्य संस्थाओं और अन्य प्रान्तीय साहित्य संस्थाओं के परस्पर सहयोग की आवश्यकता।

(1) पारिभाषिक शब्द किनको कहते हैं ?

शब्द अर्थों के संकेत गिने जाते हैं। यह संकेत दो प्रकार के होते हैं– एक अनादि और एक सादि। अनादि संकेतों को बहुत से आचार्य ईश्वर इच्छा द्वारा बना हुआ मानते हैं और बहुत से मनुष्येच्छा द्वारा, किन्तु यह संकेत परंपरा प्राप्त आदि काल से चले आ रहे हैं। कुछ संकेत मनुष्येच्छा से किसी विशेष सुभीते के लिये बनाये जाते हैं और फिर वह उसी अर्थ में व्यवहृत होने लगते हैं। ऐसे आधुनिक संकेतों को परिभाषा कहते हैं। परिभाषा से सम्बन्ध रखने वाले शब्द पारिभाषिक कहे जाते

हैं। यद्यपि आधुनिक शब्द विज्ञान के अनुकूल प्रायः सब ही शब्द सादि और इतिहास-पूर्ण हैं तथापि वह एक प्रकार से अनादि है क्योंकि उन की उत्पत्ति अन्य प्राकृतिक पदार्थों की भांति अज्ञात रूप से होती रहती है। पारिभाषिक शब्दों की उत्पत्ति ज्ञात रूप से आवश्यकता पड़ने पर होती हे। कभी-कभी प्रचलित शब्दों को पारिभाषिक अर्थ दे दिया जाता है और कभी-कभी बिलकुल नये शब्द गढ़े जाते हैं। पहिली अवस्था में एक शब्द दोनों ही अर्थ में व्यवहृत होते रहते हैं ऐसे शब्दों के कुछ उदाहरण नीचे लिखे रहते हैं।

शब्द	प्रचलित अर्थ	पारिभाषिक अर्थ
वृद्धि	बढ़ना	व्याकरण में आ, ऐ, ओ, के अर्थ में व्यवहृत होता है।
दशा	अवस्था	यह शब्द ज्योतिष शास्त्र में ग्रह चाराधीन योग्य समय के लिए व्यवहृत होता है।
परामर्श	सलाह	तर्कशास्त्र में पक्ष धर्मताव्यशिष्ट व्यापप्ति ज्ञान को कहते हैं।
विशेष	असाधारण	वैशेषिक दर्शन में नित्य द्रव्यों के व्यावर्तक अर्थ में व्यवहृत होता है।

इसी प्रकार बहुत से ऐसे शब्द मिलेंगे जिन के प्रचलित और पारिभाषिक अर्थ में भेद है। कुछ ऐसे भी शब्द मिलेंगे जिन का भिन्न-भिन्न शास्त्रों के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न अर्थ होता है। जैसे साहित्य के सम्बन्ध में रस का जो अर्थ है वह आयुर्वेद के सम्बन्ध में नहीं है। उपसर्ग व्याकरण में प्र, परा, अप, नि, इत्यादि शब्द के पूर्व लगाये जाने वाले अवयवों को कहते हैं और आयुर्वेद में प्रधान रोग के साथ होने वाले गौण विकारों को कहते हैं जैसे ज्वर के साथ शिरोपीड़ा वमन इत्यादि। बहुत से ऐसे भी शब्द हैं जिन का केवल पारिभाषिक ही अर्थ है अर्थात् उनका और कोई अर्थ नहीं है जैसे पाताल यन्त्र, पिङ्गला, धनाक्षरी, घनमूल व्याकरण की टी, घी संज्ञायें। कुछ ऐसे भी शब्द हैं जिन का पारिभाषिक और प्रचलित अर्थ एक ही जैसे कोण परिधिः धरातल इत्यादि।

व्याकरण की ही टी, घी इत्यादि संज्ञाओं को छोड़ कर प्रायः सब ही पारिभाषिक शब्दों का अवयवार्थ होता है। इनमें से कुछ योगरूढ़ी होते है अर्थात् योगार्थ के आधार पर उन को रूढ़ी संज्ञा दे दी जाती है और वही उनका पारिभाषिक अर्थ होता है और कुछ की संज्ञा यौगिक रूढ़ि रहती है। इनमें दो प्रकार की रूढ़ियाँ रहती हैं एक रूढ़ी प्रचलित अर्थ की और दूसरी रूढ़ी पारिभाषिक अर्थ की। इनमें से वही शब्द अच्छे समझे जावेंगे, जिनका केवल एक ही पारिभाषिक अर्थ अथवा जिन का प्रचलित और पारिभाषिक अर्थ एक ही हों

(2) प्राचीन पारिभाषिक शब्दों की खोज।

हिन्दी भाषा में जो पारिभाषिक शब्दों का अभाव गिना जाता है, वह हमारे अज्ञान-वश बहुत

कुछ बढ़ा हुआ दिखाई पड़ता है। वर्तमान हिन्दी लेखक प्रायः संस्कृत की अपेक्षा अंग्रेजी में अधिक पांडित्य रखते हैं। इसमें उन का दोष नहीं है, वरन् वर्तमान शिक्षा प्रणाली का ही दोष है, जिसमें कि प्राचीन कला कौशल पर यथोचित ध्यान नहीं दिया जाता है। यद्यपि आज कल के विज्ञान ने बहुत सी नई बातें निकाली हैं, किन्तु वह बातें बिलकुल नई नहीं है। उन के मूल सूत्र प्राचीन शास्त्रों में वर्तमान हैं। हमारी प्राचीन सभ्यता यूरोप के प्राचीन देशों की सभ्यता से बढ़ी चढ़ी थी और जब हम आज कल के यूरोपीय शास्त्रों का व्यवहार कर सकते हैं तो हिन्दी भाषा में भी प्राचीन शास्त्रों से बहुत कुछ सहायता मिल सकती है। किन्तु इस के लिये हम को उन के विशेष ज्ञान की आवश्यकता है। जब कोई नवीन और प्राचीन दोनों ही विज्ञानों का पंडित हो तब वह इस कार्य को कुशलता से संपादन कर सकता है। हम यह नहीं कहते कि वर्तमान विज्ञान में कोई नई बात नहीं है किन्तु हमारा यह कहना है कि यदि प्राचीन शास्त्रों का अच्छी रीति से मनन किया जावे तो बहुत कुछ अंश जो नया गिना जाता है प्राचीन मालूम होने लगेगा। जिन नवीन सिद्धान्तों की हम आश्चर्य पूर्ण शब्दों में प्रशंसा करते हैं उन में बहुत से सिद्धान्त रूपान्तर से हम को प्राचीन ग्रन्थों से मिल जाते हैं। जिन लोगों ने डाक्टर ब्रजेन्द्र नाथ सील की फिज़ीकल साइंस आफ दी हिन्दूज (Physical Science of the Hindus) अर्थात् हिन्दुओं के भौतिक विज्ञान और डाक्टर पी.सी. राय की हिन्दी केमिस्ट्री (Hindu Chemistry) श्रीयुत नरेन्द्र नाथ झा की एसींट हिन्दी पोलिटी (Ancient Hindu polity) डॉक्टर राधा कुमुद मुकरजी की प्राचीन भारत में समुद्र संबंधी कला कौशल नामक पुस्तकें पढ़ी हैं वह लोग इस बात का भली प्रकार से समर्थन करें।

प्राचीन ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न विषय के बहुत से पारिभाषिक शब्द वर्तमान हैं किन्तु जिन-जिन ग्रन्थों के आधार पर हिन्दी में नये ग्रन्थ लिखे जाते हैं उनकी विचार पद्धति प्राचीन ग्रन्थों की विचार पद्धति से कुछ भिन्न होती है। इसी कारण से उनमें अंग्रेजी के पर्याय शब्दों के मिलने में कठिनाई होती है। इस कठिनाई से बचने के लिए लोग अंग्रेजी शब्दों का अवयवार्थ करके नया शब्द गढ़ लेते हैं जो कि हिन्दी के लिए बिलकुल नया होना है और प्राचीन पद्धति के पढ़े हुए पंडितों के समझ में भी नहीं आता।

उदाहरण लीलिये अंग्रेजी तर्क में जो काम मिडिल टर्म (Middle Term) से चलता है वह काम हिन्दू न्याय में 'हेतु', शब्द से चलता है। यदि मिडिल टर्म का हेतु से अनुवाद न करके उसके स्थान में उसको अवयवार्थ मध्य पद रख दें तो संस्कृत जानने वाले पंडितों के लिए वह बिलकुल नवीन शब्द होगा। ऐसी अवस्था में यह प्रश्न अवश्य उपस्थित होता है कि हमको अंग्रेजी ग्रन्थों के अनुवाद करने में अंग्रेज़ी परिक्रिया और विचार शैली के अनुकूल बने हुए शब्द का अवयवार्थ कर देना उचित है अथवा उसका पर्याय संस्कृत शब्द देना उचित है। तर्क शास्त्र में मेजर टर्म (Major Term) (साध्य पद) का उदाहरण लीजिये। मेजर टर्म का अवयवार्थ वृहद् पद होता है। वृहद् पद से बड़ा से बड़ा नैयायिक कोई अर्थ न समझेगा। अंग्रेजी तर्क में उसको वृहद्पद इसलिए कहते हैं कि उसकी व्याप्ति सब से बड़ी होती है। इसी को साध्य इस लिए कहते हैं कि यह पद सिद्ध करता है। पद एक ही है दृष्टि भेद से उसके दो रूप दिये जाते हैं। ऐसी अवस्था में संस्कृत प्रचलित शब्द ही देना श्रेय है क्योंकि वह इस विषय के जानने वालों की समझ में शीघ्र आ जावेगा किन्तु यदि हम उस सिद्धान्त को जिसके आधार पर यह

शब्द बना है बतलाना चाहें तो हम अपने ग्रन्थ में उस शब्द का अवयवार्थ लिख कर यह बतला दें कि अमुक सिद्धान्त को प्रकट करने के लिए अंग्रेजी भाषा में अमुक शब्द है और उसका अवयवार्थ यह है। जहां तक हो सके जिन शब्दों के पर्याय हमको प्राचीन ग्रन्थों में मिलते हैं उनको ही व्यवहार में लाना चाहिए किन्तु हमको इसके साथ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि हम भेदों का तिरस्कार न करें। प्रायः बहुत सी बातों में यूरोपीय और भारतीय विचार नहीं मिलते हैं और खींचतान कर उनकी समानता करना उचित नहीं है जैसे अंग्रेजी शब्द (Matter) का बहुत से लोग 'प्रकृति' से अनुवाद करते हैं। यह ठीक नहीं। सांख्य शास्त्र प्रतिपादित प्रकृति 'मेटर' से अधिक व्यापक है! 'भूत' शब्द से (Matter)। 'मेटर' का विचार प्रकट किया जा सकता है।

यद्यपि प्राचीन पारिभाषिक शब्दों की नवीन शब्दों से समानता करना बहुत कठिन कार्य है तथापि इस कठिनाई से हमको हताश न होना चाहिये। दर्शन शास्त्र, गणित शास्त्र, आयुर्वेद शास्त्र, ज्योतिष शास्त्र इन सब शास्त्रों के पारिभाषिक शब्दों की सूची बनाई जावे और उनकी थोड़ी व्याख्या भी लिखी जावे।

इसी के साथ अंग्रेजी के वैज्ञानिक ग्रन्थों वा वैज्ञानिक कोषों की सहायता से पारिभाषिक शब्दों की सूची बनाई जावे। फिर दोनों सूचियों का मिलान करके जो समान शब्द मिल जावे वह एकत्रित कर लिये जावे, और जो अंग्रेजी ग्रन्थों के शब्द अवशिष्ट रह जावें उन के लिए नये शब्द गढ़ने का उद्योग किया जावे। यहां तक प्राचीन शब्दों से काम चले उनको न छोड़ा जावे। उन के प्रभाव में अंग्रेजी शब्दों के अवयवार्थ के आधार पर बने हुए नये शब्दों से काम लिया जावे।

(3) नवीन शब्द किस भाषा के आधार पर बनाये जावें ?

बहुत से ऐसे वैज्ञानिक पदार्थ हैं जो आजकल के आविष्कार हैं और उन के पर्याय हमारी भाषा में नहीं हैं। उन के सम्बन्ध में यह प्रश्न उठता है कि वह शब्द जैसे के तैसे हिन्दी भाषा में रख दिये जावें अथवा उनके किसी प्रकार के पर्याय बनाये जावें। आज कल दोनों ही प्रथायें चली हुई हैं। कुछ शब्द जैसे 'निकिल' 'कोबाल्ट' 'यूरे नियम' 'थेनियम' यह नाम जैसे अंग्रेजी में हैं वैसे ही हिन्दी में हैं। कुछ नाम जैसे नत्रजन (Nitrojen) ग्राव (Lithium) इन्दु (Induim) प्लव (Flurise) नेत्र (Iodine) हरिन (Chlorine) ऐसे जो संस्कृत शब्दों के आधार पर बने हैं यह शब्द किसी न किसी अंश में उस पदार्थ सम्बन्धी गुणों के द्योतक भी हैं। इन के अतिरिक्त कतिपय ऐसे भी शब्द हैं जो कि अंग्रेजी के हैं किन्तु बारियम (Barium) कार्बन (Carbon) हिन्दम (Indum) इत्यादि।

ऐसी अवस्थाओं में जहाँ कि किसी पदार्थ का विचार का पर्याय हमारी भाषा में नहीं है अंग्रेजी शब्द के आधार पर उसकी रुढ़ि बनाना उचित नहीं है यद्यपि इस के पक्ष में यह कहा जा सकता है कि अंग्रेजी जानने वालों की समझ में वह जल्द आ जावेंगे और इस बात के रमल ज्योतिष इत्यादि में प्राचीन उदाहरण भी है कि जो शब्द जिस भाषा से लिया गया है वैसा ही संस्कृत ग्रन्थों में आया है।

यह सब बात ठीक होते हुये भी ऐसे शब्दों का संस्कृत रूप में रखना ही श्रेय है क्योंकि अंग्रेजी शब्दों के साथ संस्कृत प्रत्यय वा उपसर्ग लगाना ठीक नहीं है। और ऐसे योग बनाने में कठिनाई भी

पड़ती है। अंग्रेजी भाषा के शब्दों का संस्कृत रूप देना भी ठीक नहीं है क्योंकि वह अर्थ शून्य संकेत मात्र रहते हैं। जहाँ तक हो सके हम को नये शब्द संस्कृत भाषा के ही आधार पर बनाने चाहिये। कुछ रूढ़ि शब्दों को छोड़ कर अंग्रेजी के भी पारिभाषिक शब्दों का अवयवार्थ मिलता है और वह प्रायः लेटिन वा यूनानी भाषा के आधार पर बने हैं जैसे रेडियम (Radium) एक लेटिन शब्द से बना है जिसका अर्थ किरण अर्थात् तेज का है। अच्छा होता यदि हिन्दी में (Radium) को रेडियम कहने के स्थान में तेज से बना हुआ तैजस अथवा और कोई शब्द रक्खा जाता जिस से कि हिन्दी जानने वालों को उस के गुण का भी कुछ पता चलता रहता। इसी प्रकार (Helium) (हेलियम) एक यूनानी शब्द से हेलियोस (Helios) जिसका अर्थ सूर्य होता है, बना है। अच्छा होता इसके लिए भी सूर्य से सम्बन्ध रखने वाला कोई शब्द बनाया जाता जिससे कि उसका कुछ अर्थ बोध भी हो जाता। नेपच्यून (Neptune) का अर्थ वरुण तारा किया गया है। यह ठीक ही है क्या कि जिस शब्द के आधार पर यह नाम रक्खा गया है। उसका भी अर्थ समुद्र का देवता है।

इसी प्रकार से और शब्द भी जो कि अंग्रेजी भाषा से लिये गये हैं उनका निर्माण संस्कृत धातुओं के आधार पर हो सकता है। जो अंग्रेजी के शब्द हिन्दी में जैसे के तैसे रक्खे जाते हैं उनके विषय में श्री गणनाथ सेन विद्यानिधि अपने 'प्रत्यक्ष शारीरम्' की अंग्रेजी भूमिका में इस प्रकार लिखते हैं। "Not knowing English as a rule, they (Ayurvedic students) are scared away by the transliterated English and Latin names" अर्थात् साधारणतः अंग्रेजी से अनभिज्ञ आयुर्वेदिक विद्यार्थी प्रतिलिपित अंग्रेजी और लेटिन शब्दों से घबरा कर भागने लगते हैं इसलिये जहाँ तक हो सके हिन्दी में विदेशी भाषाओं के आधार पर बने हुए शब्दों का प्रयोग कराना उचित नहीं है। जो ऐसे शब्द हमारी भाषा में प्रविष्ट हो चुके हैं उनका बहिष्कार किया जावे। केवल वह शब्द (जैसे फोटोग्राफी) जो सर्वसाधारण की भाषा में भी प्रचार पा चुके हैं बने रक्खे जावें। उनका निकालना शुद्धता को हद्द तक पहुंचाना है।

(4) व (5)। प्राचीन शब्दों का संग्रह एवं नवीन शब्दों का निर्माण और इस कार्य में भिन्न साहित्य सम्बन्धिनी संस्थाओं के साथ सहयोग।

प्राचीन शब्दों के संग्रह के विषय में ऊपर भी कहा जा चुका है। प्राचीन पारिभाषिक शब्दों का भी संग्रह इतना ही आवश्यक है जितना नवीन शब्दों का निर्माण। इसके लिये भिन्न -भिन्न संस्थाओं जैसे समस्त भारत भिषक् सम्मेलन 'काशी' नवद्वीप आदि स्थानों के विद्यालयों की सहायता से ज्योतिष वेद व्याकरण शिक्षा न्याय मीमांसा धर्म शास्त्र आदि शास्त्रों के पारिभाषिक शब्द संग्रह किये जावें और उनकी विषयानुकूल सूची बनाई जावे। इसके साथ ही दूसरी ओर से पहिले एक वर्तमान विज्ञानों की सूची बनाई जावे और उसके पश्चात् प्रत्येक विज्ञान के संबंध में तद्विषयक पुस्तकों की शब्द सूची (Index) एवं कोषों से भिन्न-भिन्न शास्त्रों में व्यवहार होने वाले पारिभाषिक की सूची बनाई जाते। इस सूची और प्राचीन शब्दों की सूची का मीलान करने पर जो समान शब्द मिल जावें उन को अलग कर लिया जावे, बाकी शब्दों के निर्माण का उद्योग किया जावे। इस निर्माण में वर्तमान वैज्ञानिक वा

दार्शनिक पुस्तकों में जो नये शब्द प्रचलित हो गये हैं एवं श्री काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हिन्दी वैज्ञानिक कोष Hindi Scientific Glossary में दिए हुए शब्दों का विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिये, जो शब्द व्यवहार में आ चुके हैं उन को ही प्रमाणित कर लेना उचित है। पारिभाषिक शब्दों के लिए निश्रयता और स्थिरता गुण आवश्यक है। साहित्य में तो एक अर्थ के लिए बहुत से शब्दों का होना अच्छा समझा जाता है किन्तु दर्शन और विज्ञान में एक अर्थ के लिए एक ही शब्द होना उचित है। एक शब्द के बहुत से अर्थ होना उचित है। एक शब्द के बहुत से अर्थ होना अनिश्चयता और भ्रम का कारण होता है। साधारणत पर्याय शब्द समान अर्थ वाले गिने जाते हैं किन्तु वास्तव में प्रत्येक पर्याय शब्द के अर्थ में थोड़ा बहुत अन्तर होता है। आजकल पारिभाषिक शब्दों में अनिश्चयता के कारण भिन्न-भिन्न लेखक अपनी-अपनी रुचि के अनुसार शब्द गढ़ लेते हैं। इन में समझने वालों को भ्रम होता है।

वैज्ञानिक शब्द ऐसे होना चाहिए जो कि सब लोगों के लिए एक ही अर्थ रखते हों और उस अर्थ की भी सीमा निश्चित होनी चाहिए। पारिभाषिक शब्दों में बाहुल्य होना श्रेय नहीं है। इसीलिए जो शब्द व्यवहार में आ चुके हैं, उनका ही प्रमाणित कर लेना चाहिए पूर्व ही श्री नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा जो पारिभाषिक शब्द सम्बन्धी कार्य हुआ है, वह परम श्लाघनीय है। भविष्य का भी कार्य थोड़े बहुत अन्त के साथ उसी पद्धति पर कमेटियों द्वारा होना चाहिए। खेद है कि विज्ञान परिषद की सी अर्थ शास्त्र और दर्शन शास्त्र संबन्धिना संस्थायें नहीं हैं नहीं तो यह कार्य और भी सुलभ हो जाता है। ऐसी संस्थाओं के अभाव में हर एक विषय के पंडितों और विशेष कर लेखकों को भिन्न कमेटियां बनवाकर यह कार्य संपादन किया जावे लेखकों के सहयोग के साथ भिन्न प्रान्तीय साहित्य सम्मेलनों के साथ सहयोग होना चाहिए भिन्न-भिन्न प्रान्त के वैज्ञानिकों के सहयोग और विचार विनमय के अर्थ सब प्रान्तीय भाषाओं में एक से पारिभाषिक शब्दों का होना अत्यन्त आवश्यक है प्रायः सब ही प्रान्तीय भाषाओं का संस्कृत से थोड़ा बहुत सम्बन्ध है इस कारण से सम्मिलित शब्द भंडार होना संभावना से बाहर नहीं है। यद्यपि यह योजना बड़ी कठिन प्रतीत होती है तथापि अविकल परिश्रम के लिये कोई बात असाध्य नहीं जिस कार्य पर मातृभाषा की भावी उन्नति का बहुत कुछ भाग निर्भर है जिस कार्य के सम्पादन से भारतवर्ष में दर्शन और विज्ञान का क्षेत्र विस्तृत होने की आशा है उसे महत्त् कार्य के लिए जो कुछ समय धन और परिश्रम का व्यय हो वह वृथा न होगा।

साभार : भारतीय भाषाएँ और राष्ट्रीय अस्मिता

राष्ट्रभाषा और महात्मा गांधी

– श्रीयुत हरिभाऊ उपाध्यय

मनुष्यता का मुख्य धर्म है– तेजस्विता, और तेज स्विता में दो तत्व प्रधानरूप से समाविष्ट रहते हैं– 1. स्वतन्त्रता और 2. निर्भयता। फलतः जहाँ परतन्त्रता और भय है वहाँ तेजोहीनता; अतएव मनुष्यता का अभाव, स्वयं सिद्ध है। स्वतन्त्रता और निर्भयता मनुष्य का जन्म-सिद्ध अधिकार है, नहीं उसकी जन्मजाति स्थिति है। यह प्रकृति का नियम है—ईश्वर की इच्छा है—

पृथ्वी का छोटे से छोटा अणु-परमाणु निसर्गतः स्वतन्त्र है और उन के निश्चित कार्य में अप्राकृतिक रूप से बाधा पड़ना सृष्टि के लिए हानि कर, अतएव अवांछनीय है। इसलिए सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ और प्राणी की स्वतन्त्रता की रक्षा करना उसे सुरक्षित रहने देना प्रकृति की सब से भारी सेवा करना है।

विकास क्रम से मनुष्य प्राणी अब तक की समस्त ज्ञात जीव-सृष्टि में सब से उच्च और उन्नत है। अतएव स्वतन्त्रता और निर्भयता के भाव उस में अन्य समस्त प्राणियों से अधिक होने चाहिए।

समाज और राष्ट्र के निर्माण और संगठन की आवश्यकता केवल इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए है कि प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व का स्वतन्त्र विकास हो, दूसरे शब्दों में यों कहें कि मानव भाव का अर्थात् स्वतन्त्रता और निर्भयता के भावों का पूर्ण विकास हो। विश्व की सारी मनुष्य जाति भिन्न-भिन्न राष्ट्रों में विभक्त है और आदर्शों तथा जीवन के समीपवर्ती उद्देश्यों की एकता कम-से-कम अनुकूलता, राष्ट्र व्यवस्था का प्राण-शक्ति होती है।

राष्ट्रभाषा, राष्ट्र-निर्माण, राष्ट्रीय एकीकरण या राष्ट्रोन्नति का एक मूल है। भाषा हृदय के भावों का वाहक साधन है। भावों के अनुकूल ही भाषा प्रकृति ने प्राणियों को प्रदान की है। और भावों के उत्कर्ष और अपकर्ष के अनुसार भाषा में उत्कर्ष और अपकर्ष पाने का धर्म विद्यमान है। और जब कि भावों की, आदर्शों की एकता ही राष्ट्र निर्माण का प्राण है, तब भाषा की एकता भी राष्ट्रोन्नति के लिए स्वयं सिद्ध हो जाती है।

मातृभाषा और राष्ट्रभाषा में श्रेष्ठता और उपयोगिता की दृष्टि से इतना ही भेद है कि मातृभाषा का सम्बन्ध मनुष्य की व्यक्तिगत उन्नति से है और राष्ट्रभाषा का सम्बन्ध राष्ट्रीय उन्नति से है। व्यक्तिगत जीवन की विच्छिन्नता, विचित्रता और बहुविधिता क्रमशः होकर राष्ट्रीय जीवन में उन

महत्तम समापवर्तक शेष रह जाता है। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न उपजातियों, उप-समाजों की मातृभाषाओं के उन अंशों की गुणों की एक वाक्तयता या सामंजस्य राष्ट्रभाषा में हो जाता है, जो सब भाषाओं के उन अंशों जो सब भाषाओं में प्रायः समान-रूप से पाये जाते हैं। वे गुण हैं सरलता, सुगमता, सर्व प्रियता और अब यह बात निर्विवाद सिद्ध हो चुकी है कि भारतवर्ष में हिन्दी या हिन्दुस्तानी ही एक ऐसी भाषा है जिसमें भिन्न-भिन्न प्रान्तों की भाषाओं की एक वाक्यता और सामंजस्य का सबसे अधिक धर्म विद्यमान है और जो बँगला, गुजराती, मराठी, गुरुमुखी, तमिल आदि समस्त प्रान्तीय भाषाओं से अधिक सरल, सुगम और सर्व लोक-प्रिय है, और इसलिए जो भारतीय राष्ट्र की सफल और सुयोग्य राष्ट्रभाषा हो सकती है।

महात्मा गाँधी मानवता की प्रतिमूर्ति हैं। उन की आत्मा में मानवी गुणों का जितना उत्कर्ष दिखाई देता है, उतना संसार के किसी विद्यमान मनुष्य की आत्मा में नहीं पाया जाता। वे विश्व की उन शक्तियों और आत्माओं में हैं, जिनकी कार्य सीमा राष्ट्रीय उन्नति के संकुचित अर्थ तक ही बँधी हुई नहीं है; पर वे राष्ट्र, मनुष्य जाति और विश्व के तारतम्य को भुला देने वाले स्वप्न सृष्टि के जीव भी नहीं हैं। उन्होंने सब से पहले अपने भारतीय राष्ट्र की उन्नति के लिये अपने को अर्पण कर दिया। उन की पारदर्शिनी दृष्टि ने उन तत्वों को अवलोकन किया, जिन के आधार पर इस पुरातन सनातन विशाल राष्ट्र का उद्धार गौरव के साथ हो सकता है। राष्ट्र भाषा का महत्त्व उन्हीं रत्नों में से है, जो महात्मा गांधी ने अपने दीर्घ विचार सागर में गहरे गोते लगाकर प्राप्त किया है।

आज से 21 वर्ष पहले, सन् 1902 ईस्वी में जब कि यहाँ भारतवर्ष में हिन्दी भाषा-भाषी परन्तु शिक्षित और उच्च श्रेणी के समझाने वाले लोग अपनी मातृभाषा से बुरी तरह उदासीन थे और विभाषी महानुभावों में शायद कोई भी—मुझे ठीक याद नहीं पड़ता न मेरे पास यहाँ यह जानने का साधन ही है कि स्वर्गीय जस्टिस शारदाचरणमित्र बड़ौदा के वर्तमान महाराजा साहब तथा स्वर्गीय कृष्ण स्वामी ऐयर और लोकमान्य तिलक उस ज़माने में हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्वीकार कर चुके थे या नहीं— इस विषय में इतने सतर्क थे, जितना कि सुन्दर सौराष्ट्र के एक सुन्दर कोने में उत्पन्न, सात समुद्र पार शिक्षित और दीक्षित काले हबशियों के देश में रहने वाला एक गुजराती बनिया उसका प्रत्यक्ष प्रयोग कर के दिखा रहा था। दक्षिण अफ्रिका के सत्याग्रह-संग्राम और उसके धीर वीर चतुर सेना नायक महात्मा गांधी ने अपने फ़िनिक्स आश्रम से एक समाचार-पत्र चार भाषाओं में निकाला उस का नाम रक्खा गया 'इंडियन ओपिनियन' और अंग्रेजी, गुजराती, हिन्दी और तमिल ये चार भाषायें उस में रक्खी गई। कोई चार पाँच वर्षों तक हिन्दी विभाग जारी रहा फिर अनेक असुविधा के कारण हिन्दी और तमिल विभाग बन्द कर देना पड़ा, पर इन चार भाषाओं का समावेश दक्षिण अफ्रिका की विशेष आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए भी इस बात को अच्छी तरह सूचित करता है कि महात्मा गाँधी की दृष्टि में उस समय भारतीय राष्ट्र निर्माण किस प्रकार प्रच्छन्न बीज के रूप में था और विशेष रूप यह कि हिन्दी भाषा की ओर उन के चित्त का आकर्षण कितने समय से और कितनी अधिक मात्रा में था। दक्षिण अफ्रिका में रहते हुए, अपने साथियों और विशेष कर के 'इंडियन ओपिनियम' के सम्पादकीय विभागों

वालों को हिन्दी सीखने पर वे बहुधा ज़ोर दिया करते थे और अपने भतीजे श्रीयुत छगनलाल गाँधी से कई लेख हिन्दी में लिखवा कर 'इण्डियन ओपिनियन' में छपाये थे। दक्षिण अफ्रिका को यदि हम भिन्न-भिन्न प्रान्तों के लोगों के निवास की दृष्टि से एक छोटा सा हिन्दुस्तान ही कहें तो अनुचित न होगा। वहाँ मदरासी, गुजराती, मुसलमान और उत्तर भारतीय प्रायः सब प्रकार के भारतीय जा बसे हैं। उन के अधिकारों की रक्षा के लिए आन्दोलन खड़ा करते समय सब के लिए सुगम सब के लिए कार्यसाधक, एक सामान्य भाषा की आवश्यकता महात्मा जी को दिखाई और इसके लिए इन्होंने हिन्दी या हिन्दुस्तानी भाषा को ही चुना और फिर सारे भारतीय राष्ट्र के लिए भी उन्होंने उसी को उपयुक्त राष्ट्र भाषा स्वीकार किया। अपने 'इण्डियन ओपिनियन' के गुजराती विभाग में ''राष्ट्र भाषा'' पर कभी-कभी आप लेख भी लिखते थे।

गत 1909 ईसवी के अक्टूबर में राजकोट में गुजरात साहित्य परिषद की बैठक होने वाली थी उसको प्रोत्साहन देने के लिए लन्दन में सर मंचर जी भावनगरी के सभापतित्व में गुजराती भाषियों की एक सभा हुई थी। उसमें एक प्रस्ताव को उपस्थित करते हुए महात्मा गांधी ने अपने गुजराती व्याख्यान के आरम्भ में कहा था—

''हिन्दूस्तान में आजकल नई हवा बह रही है। हिन्दू, मुसलमान, पारसी, यह सब 'मेरा देश अथवा 'हमारा देश' इनका जप कर रहे हैं, इस मौके पर हम राजनैतिक दृष्टि से चाहे विवेचन न करें परन्तु भाषा की दृष्टि से विचार करने पर हमें तुरन्त ही मालूम हो जायगा कि हार्दिक भाव से 'हमारा देश शब्दों का उच्चारण करने के पहले हमें भाषा का अभिमान अवश्य पैदा करना होगा। मैं तो समझता हूँ कि भारतवर्ष छोटे बड़े सब लोग अपनी भाषा की सुध लेने लग गये हैं। यह बात सन्तोष जनक है। ऐसे भी उदगार सुनाई देते हैं कि भारतीय राष्ट्र के लिये कोई एक सामान्य भाषा होनी चाहिये। आगे चल कर शायद यह सिद्ध भी हो जाय। इस बात को तो सब लोग क़वूल कर लेंगे कि वह भाषा हिन्दूस्तान की ही होना चाहिए... प्रत्येक प्रान्त के अग्रणियों को दूसरे प्रान्त की भाषाएँ जाने बिना छुटकारा नहीं है।''

स्वयं महात्मा जी ने टूटी फ़ूटी हिन्दी पढ़ ली थी और हिन्दी भाषियों के साथ वे प्रायः हिन्दी में पत्र व्यवहार करते थे। 1910 ई. में लिखे ऐसे जो पत्रों की नकल यहाँ दी जाती है, ये पत्र फिजी द्वीप में मेरे 21 वर्ष के लेखक पं. तोताराम जी सनाढ्य को लिखे गये थे और उन की पूर्वोक्त पुस्तक में प्रकाशित भी हुये हैं—

पहला पत्र

श्रावन बदी 8 सं. 1937

आप का खत मिला है। वहाँ के हिन्दी भाइयों का दुख की कथा सुन के मैं दुखी होता हूँ। यहाँ से कोई वैरिस्टर को भेजने का मौका नहीं है। भेजने जैसा कोई देखने में भी नहीं आता है।

जो यहाँ पर उस का बयान मुझ को भेजते रहना मैं वह विलायत तक पहुँचा दूँगा।

स्टीमर की तकलीफ का ख्याल मुझे बराबर यहाँ पाता है। यह सब बातों के लिये वहाँ कोई अँग्रेजी पढ़ा हुआ स्वदेशाभिमानी आदमी होना चाहिये।

कोई मेरे ख्याल में आवेगा तो मैं भेजूँगा।

आप का दूसरा खत की राह देखूँगा।

मोहनदास करमचन्द गांधी का यथायोग्य पहुँचे।

दूसरा पत्र

आप का पत्र मिलता है। मि. मणिलाल डॉक्टर के लिए मैंने तार भेजा था। उस का जवाब आप ने न भेजा। इस पर मैं समझा कि आप लोग उस को मुक्त करने में राज़ी न थे। दूसरे संबंधों के लिये भी मणिलाल जी ने फिजी ही जाने का निश्चय किया। गत शुक्र के रोज यह भाई केप से निकाल चुके हैं आप को तार भी दिया हूँ आस्ट्रेलिया हो कर वहाँ पहुँचेंगे।

मेरी उम्मीद है आप के सब अब राजी होवेंगे और मि. मणिलाल जी की अच्छी तरह बरदास्त करोगे। उन का रहना खाने का बन्दोबस्त वहां के लोगों ने हाल तुरन्त में करना चाहिए। सब भाइयों का उत्तेजन मिलेगा तो अवश्य मि. मणिलाल जी वहाँ स्थायी बनेंगे।

फेर कुछ लिखना होगा तो लिखना।

हिन्दी पत्रों में महात्मा जी तिथि तक देशी ही लिखते थे, यह बात तो पूर्वोक्त पत्र से ही स्पष्ट हो जाती है, पर मैंने देखा है कि हिन्दूस्तान में वे हिन्दी पत्रों पर पता और मुकाम का नाम की हिन्दी ही भाषा में लिखा करते थे।

1914 ई. में महात्मा गाँधी दक्षिण अफ्रिका के सत्याग्रह में विजयी हो कर अपनी मातृभूमि को लौट आये। यहाँ आने पर हिन्दी भाषियों के साथ आप बहुधा हिन्दी में ही बोलते थे; सार्वजनिक कार्यकर्ताओ और नेताओं को जिन की मातृभाषा हिन्दी नहीं है या हिन्दी होते हुये भी अंग्रेजी भाषा का व्यवहार करते थे, वे अक्सर हिन्दी की सिफ़ारिश किया करते। भाषण भी वे प्रायः अपनी हिन्दी में ही करते थे। भारत में आने के बाद 1915 ईसवी में उन का सब से पहला हिन्दी भाषण गुरुकुल कांगड़ी में हुआ था। फिर मैंने 1916 में उन्हें लखनऊ में राष्ट्रीय महासभा के अधिवेशन के समय हिन्दू महासभा में स्वयं महासभा में तथा एक लिपि-प्रचार परिषद के सभापति की हैसियत से हिन्दुस्तानी में भाषण करते हुए सुना। महासभा में तो एक प्रस्ताव उपस्थित करते हुये मदरासी भाइयों को कड़ा नोटिस दिया कि एक साल के भीतर आप को भारत की राष्ट्रभाषा इतनी अवश्य जान लेनी चाहिए कि आशय समझलें, अन्यथा अगली महासभा में मेरे भाषण से आप लाभ न उठा पावेंगे और सचमुच दूसरे वर्ष की महासभा में फिर आपने इस बात की याद की उन्हें दिलाई और प्रेमपूर्वक उलहना भी दिया। एक लिपि विस्तार परिषद में किया आप का भाषण कई जगह छप चुका है फिर भी उस के सारांश देने के मोह को मैं नहीं रोक सकता।

आप ने कहा मैं ''गुजरात से आया हूँ। मेरी हिन्दी टूटी-फूटी है। तथापि मैं हिन्दी ही में आप से बोलता हूँ। मुझे आप को हिन्दी का गौरव समझाने की आवश्यकता नहीं। मुझ से हिन्दी का गौरव

जानने की आप की इच्छा वैसी ही होगी जैसी कि गंगा में नित्य स्नान करने वाले मनुष्य का किसी से उसका महात्म्य पूछना।''

फिर आप ने हिन्दी प्रचार के लिए ''क्रिश्चियन लिटरेचर डिपो' और 'बाइबिल सोसायटी' की नीति पर काम करने की आवश्यकता बताते हुए इस बात पर जोर दिया कि बाहरी लोगों को हिन्दी पढ़ाने का सुभीता और यथोचित प्रबन्ध करें। आप ने कहा– जिन प्रान्तों में हिन्दी का प्रचार क्रम है, वहाँ हिन्दी पढ़ाने वालों की बड़ी कमी है। मैं स्वयं हिन्दी सीखना चाहता था। पर अहमदाबाद में कोई हिन्दी ज्ञाता शिक्षक न मिला। मिला बेचारा एक गुजराती भाषी जिस ने 15-20 वर्ष काशी में रह कर टूटी फूटी हिन्दी सीखी थी। (उसी से मैंने हिन्दी सीखी थी)। आप बाहर जा कर लोगों को हिन्दी सिखाइए तथा सरकार भी आप की बात सुनेगी।''

इसके बाद आपने कहा कि हाँ, मैं मानता हूँ कि अँग्रेजी न जानने के कारण कभी कभी वृथा ही बहुत कष्ट उठाना पड़ता है– मुझे भी रेलवे में हिन्दी बोलने के कारण धक्के खाने पड़ते हैं; पर काम करने वाले इस बातों की परवा नहीं करते। लोग कहते हैं कौन्सिलों में अंगरेजी की पूछ है। वाइसराय अंगरेजी के सिवा दूसरी भाषा नहीं समझते। इस पर मैं कहता हूँ कि यदि मैं बोलना जानता हूँ और मेरे कथन में कोई ऐसी बात है जिससे वाइसराय लाभ उठा सकें तो वे अवश्य ही मेरी बातें हिन्दी में होने पर भी सुनेंगे।''

इस भाषण से उन से राष्ट्रभाषा विषयक प्रौढ़ और दृढ़ विचारों का पता अच्छी तरह लगता है और 1918 में युद्ध-परिषद् में जो तत्कालीन बड़े लाट लार्ड चेम्सफोर्ड के सभापतित्व में कहुई थी। आप ने युद्ध में सहायता देने के प्रस्ताव का समर्थन राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी में कर के अपनी तेजस्विता और राष्ट्रभाषा प्रेम का उज्ज्वल उदाहरण पेश किया था।

1916 ईसवी से भारतीय राजनीति के क्षितिज में आप का उदय क्रमशः वेग के साथ होने लगा। हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी और उस के बाद चम्पारन प्रकरण, ने उन के महत्त्व के लोगों की दृष्टि में एकदम बढ़ा दिया। वे देश में भिन्न-भिन्न सार्वजनिक आन्दोलनों में काम लेने लगे। उन के सारे कार्यक्रम और कार्य प्रवाह में विदेशी शिक्षा और भाषा पर मुख्य रूप से कटाक्ष होने के कारण शिक्षा और भाषा की दिशा में भी उनका पूरा पूरा ध्यान जाता था।

1916-17 ईसवीं के शिक्षा, मातृभाषा, राष्ट्रभाषा आदि विषयों पर आप ने गुजराती के पत्रों में कुछ अच्छे-अच्छे लेख लिखे, भारत भर में स्थान-स्थान पर कितने ही व्याख्यान दिये। इस समय दो व्याख्यान खात तौर पर उल्लेखनीय हैं।

दूसरी गुजरात-शिक्षा परिषद भड़ौच के सभापति की हैसियत से आपने एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण गंभीर और विवेचनात्मक भाषण किया जिसमें शिक्षा के हर पहलू पर अपनी स्वतन्त्र चिकित्सक दृष्टि से आप ने विचार किया था, उस में राष्ट्रभाषा के संबंध में आप के जो उद्गार प्रकट किये थे, उनका सार यहाँ देना आवश्यक है–

''कितने ही स्वदेशाभिमानी विद्वान कहते हैं कि राष्ट्रीय भाषा अंग्रेजी होनी चाहिये। उनकी

दशा को देखते हुए तो ऐसा प्रतीत होता है कि अंग्रेजी के बिना हमारा काम नहीं चल सकता, पर यदि ज़रा गहरा विचार करें तो मालूम हो जाता है कि अंग्रेजी हमारी राष्ट्रीय भाषा नहीं हो सकती, न होनी चाहिये। राष्ट्रीय भाषा में ये पाँच लक्षण होने चाहिए—

(1) वह भाषा राज्य-कर्त्ताओं के लिए सुगम हो।

(2) उस के द्वारा भारतवर्ष का पारस्परिक, धार्मिक, आर्थिक और राजनैतिक व्यवहार चल सके।

(3) उस को भारत के अधिकांश लोग बोलते हों।

(4) वह सारे राष्ट्र के लिये सुगम हो,

(5) उस भाषा का विचार करते समय उस की क्षणिक या अस्वस्थायी दशा पर जोर न दें।

पहला लक्षण अन्त में रखना चाहिये था पर ऐसा आभास होता है कि यह लक्षण अंग्रेजी पर घटता है। इसलिये उसे मैंने सब से पहला स्थान दिया है। यहाँ के शासन संगठन की मूल भूत कल्पना के अनुसार यहाँ का अंग्रेजी शासक वर्ग दिन पर दिन कम होते हुए, बड़े लाट या दूसरे उंगली पर गिनने लायक अंग्रेजी अधिकारी यहाँ रह जायेंगे और आज भी यहाँ के राज कर्मचारी अधिकांश में भारतवासी ही हैं और उनकी संख्या दिन पर दिन बढ़ती जायेगी। और तो यह सब को मानना होगा कि उस वर्ग के लिए भारत की किसी भी भाषा की अपेक्षा अंग्रेजी कठिन है।

अंग्रेजी को दूसरे, तीसरे और चौथे लक्षणों के भी स्पष्टतः अयोग्य बताते हुए पाँचवें लक्षण के विषय में आपने अंग्रेजी की क्षणिक सत्ता बताते हुए कहा कि चिरस्थायी स्थिति तो यह है कि भारत के राष्ट्रीय कार्यों में अंग्रेजी भाषा की ज़रूरत बहुत ही कम रहेगी। साम्राज्य के राज्य व्यवहार की भाषा चाहे भले ही अंग्रेजी हो, पर राष्ट्र की भाषा अंग्रेजी नहीं हो सकती।''

फिर आपने हिन्दी भाषा को ही उपर्युक्त पाँच लक्षणों से युक्त बताते हुए उसी को राष्ट्रभाषा पद के योग्य बताया और उस की यह व्याख्या की कि जिस भाषा को उत्तर में हिन्दू और मुसलमान बोलते हैं तथा जो देवनागरी अथवा उर्दू लिपियों में लिखी जाती है वह हिन्दी है।

अन्त को भारत की दूसरी तमाम प्रान्तिक भाषाओं से हिन्दी को अधिक सरल सुगम, और कार्य-साधक सिद्ध करते हुए मदरासियों की कठिनाई के सम्बन्ध में कहा— मैंने देखा है कि द्रविड़ प्रान्तों में भी हिन्दी की ध्वनि सुनी जाती है। यह कहना ठीक नहीं है कि मदरास में तो अंग्रेजी के ही द्वारा काम चलता है। वहां भी मैंने अपना काम हिन्दी में चलाया है। सैकड़ों मदरासी यात्रियों को मैंने दूसरों के साथ हिन्दी बोलते हुए देखा है। और मदरास के मुसलमान तो हिन्दी ठीक ठीक बोलना जानते हैं। यहाँ यह याद रखना चाहिए कि सारे हिन्दुस्तान के मुसलमान उर्दू बोलते हैं और हर प्रान्त में उन की संख्या कोई ऐसी वैसी नहीं है।

इस प्रकार हिन्दी भाषा राष्ट्रीय भाषा के पद के लिए निर्माण हो चुकी है। उसे हमने कितने वर्ष, पहले राष्ट्रीय भाषा के तौर पर इस्तेमाल की है। उर्दू की उत्पत्ति भी हिन्दी की इसी शक्ति के द्वारा हुई है।

इसी साल बिहारी धाम सम्मेलन के सभापति का आसन भी आप ने सुशोभित किया था। उस अवसर पर अपने भाषण में आप ने कहा—इस सम्मेलन का काम इस प्रान्त की भाषा में जो कि आप की राष्ट्रीय भाषा भी है, चलाने का आप ने निश्चय किया है। इसके द्वारा आप ने अपनी दीर्घ दृष्टि का परिचय दिया है, जिस के लिए मैं आपको धन्यवाद देता हूँ। मैं आशा रखता हूँ कि आप इस प्रथा को जारी रखेंगे।

हम ने मातृभाषा का अनादर किया है। इस पाप का कुफल हमें अवश्य भोगना पड़ेगा। मातृभाषा का अनादर माता के अनादर के समान है। जो मातृभाषा का अनादर करता है वह अपने को स्वदेश भक्त कहलाने की योग्यता नहीं रखता। कितने ही लोग कहते हैं, कि हमारी भाषा में ऐसे शब्द नहीं है जिन के द्वारा हम अपने उच्च विचार प्रदर्शित कर सकें। पर सज्जनों, यह भाषा का दोष नहीं। यदि हम मातृभाषा की उन्नति न कर सकें और यदि हमारा यह सिद्धान्त हो कि अंग्रेजी के द्वारा ही ऊँचे विचार प्रकट किये जा सकते हैं तो इस में ज़रा भी शक नहीं कि हम हमेशा गुलाम बने रहेंगे। जब तक हमारी मातृभाषा में हमारे तमाम विचारों को प्रदर्शित करने की शक्ति न आवेगी और जब तक वैज्ञानिक विषय मातृभाषा के द्वारा नहीं पढ़ाये-समझाये जा सकते तब तक राष्ट्र को नवीन ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता यह तो स्वयं सिद्ध है कि—

1. समस्त जनता को नवीन ज्ञान की आवश्यकता है।
2. समस्त जनता, अंग्रेजी कभी नहीं समझ सकती।
3. अंग्रेजी पढ़ने वाला ही नवीन ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

अतएव समाज जनता को नवीन ज्ञान प्राप्त होना असम्भव है। इसका अर्थ यह कि यदि पहले दो पद सच हों तो राष्ट्र का नाश अवश्यम्भावी है। पर इसमें भाषा का दोष नहीं। तुलसीदास जी अपने दिव्य विचार हिन्दी भाषा में ही प्रदर्शित कर सके हैं। रामायण जैसे ग्रन्थ बहुत ही कम है। मानसरोवर से निकलती हुई गंगा का प्रवाह जिस प्रकार सूर्य की किरणों से सुवर्ण की तरह चमकता है, उसी प्रकार भारत भूषण मालवीय जी का हिन्दी व्याख्यान भी झलकता है। मैंने कितने ही मौलवियों को धर्म बोध करते हुये सुना है। वे बड़ी आसानी से अपने गम्भीर विचार अपनी मातृभाषा के द्वारा प्रकाशित कर सकते थे। तुलसीदास जी की भाषा सम्पूर्ण है, अविनाशिनी है। इस भाषा में यदि हम अपने विचार न प्रकट कर सकें तो इस में दोष हमारा ही है।

इसी साल दिसम्बर में महासभा के अधिवेशन के समय कलकत्ते में एक लिपि-विचार परिषद की बैठक लोकमान्य तिलक महाराज के सभापतित्व में हुई थी। उसमें आप ने बड़े नम्र परन्तु दृढ़ भाव से अपनी हिन्दी में उलहना दिया—''सभापतित्व जी के व्याख्यान से मैं सुखी-दुखी दोनों हुआ हूँ। क्योंकि आपने आज जो विद्वतापूर्ण बातें कही हैं, वे यदि हिन्दी में कहीं गई होतीं तो कितना लाभ होता। परन्तु हमारे हृदय में उन के प्रति ऐसी श्रद्धा और आदर का भाव है कि हम उनके दर्शन ही से तृप्त हो जाते हैं, पर हमें इस बात की भी तृष्णा है कि उन में जो बातें है, वे हम में भी आ जाय, इसलिए उन के लिए हिन्दी सीख लेना कोई कठिन नहीं है, जब कि लार्ड डफरिन और महारानी विक्टोरिया ने

हिन्दी सीख ली थी। स्वराज्य के लिए सब से बड़ा आन्दोलन तिलक महाराज कर रहे हैं। आप बड़े हैं। आप सहज ही में हिन्दी को राष्ट्रभाषा बना सकते हैं। कांग्रेस का काम हमारे हाथ में है। उसमें यदि हमारे सभापति जी और मालवीय जी महाराज सहायता करेंगे तो आगामी कांग्रेस में हमें अंग्रेजी शब्द सुनने में नहीं आवेंगे। मालवीय जी से मेरी एक प्रार्थना और है। वह यह है कि आप ने कांग्रेस में हिन्दी में भाषण क्यों न किया? सरकार के पास पीछे जायेंगे। पहले अपने घरवालों को तो देख लें। अंग्रेजी को सब लोग नहीं समझ सकते पर मेरी इस हिन्दी को चाहे वह टूटी फूटी है, सब लोग समझ तो रहे हैं। एक ओर हमारे बच्चे मर रहे हैं पर बिना अंग्रेजी समझे उन्हें कोई चारा नहीं। जब हमारे नेता लोग हिन्दी में अपने विचार फैलावेंगे तो अंग्रेजी भाषा को फिर कौन पूछेगा?''

खानगी तौर पर तो प्रायः हर एक नेता से हिन्दी बोलने और सीखने का अनुरोध किया करते थे।

माननीय सी.वाई. चिन्तामणि को आप ने कितनी ही बार समझाया है और शर्मिन्दा किया है कि इतने बरसों तक प्रयाग में रहते हुये भी आप हिन्दी बोलना नहीं जानते। ऐसा तो कितनी ही बार हुआ है कि महात्मा जी हिन्दी में बोल रहे हैं और उनके साथ हिन्दी भाषी अंग्रेजी में या आधी अंग्रेजी और आधी हिन्दी में बात करते हैं। यहाँ तक कि पूजनीय मालवीय जी को वे कभी कभी कह देते कि अच्छा यदि दिक्कत होती हो तो आप अंग्रेजी में अपने विचार प्रकट कीजिये : पर खुद हिन्दी में ही बोलते।

सत्याग्रहाश्रम की स्थापना आपन ने 1915 ईसवीं में की। वहाँ हर एक सती पुरुष और बच्चे के लिए हिन्दी जाना अनिवार्य था। और आज जो गुजरात से ''संलग्न समस्त राष्ट्रीय पाठशालाओं में (2) दरजे तक हिन्दी पढ़ाना अनिवार्य है और (3) दरजे तक हिन्दी पढ़ाने की खास व्यवस्था है। आज सत्याग्रहाश्रण में के भी ऐसा बालक या बूढ़ा न मिलेगा जो हिन्दी में कार्य न कर सकता हो और ऐसे तो कई सज्जन हैं जो हिन्दुस्तानी में (इसी हिन्दीमय वायुमण्डल का यह परिणाम है जो उत्सुक रहते हुये भी अभी तक गुजराती बोलने का अच्छा अभ्यास मुझे न हो पाया क्योंकि मेरा सब काम हिन्दी में चल जाता है।)

व्याख्यान भी दे सकते हैं। गुजरात महाराष्ट्र और मदरास में आज जो हिन्दी के प्रति प्रेमादर है और उसका विचार दिन पर दिन अधिकाधिक हो रहा है उस का प्रायः सारा श्रेय महात्मा जी के ही सतत प्रयत्न को है।

इन्दौर के अष्टम हिन्दी सम्मेलन के अवसर पर सभापति की हैसियत से मदरास के हिन्दी प्रचार के जिस जो दीर्घ उद्योग आप ने किया वह केवल हिन्दी भाषा के इतिहास में ही नहीं वरन भारत की राष्ट्रीय जागृति के इतिहास में भी अमर रहेगा।

पाँच वर्ष पहले किसने सोचा होगा कि मदरास जैसे प्रान्त से हिन्दी में साप्ताहिक और याक्षिक पत्र का निकलना भी सम्भावनीय है। ''भारत तिलक'' (साप्ताहिक) के सम्पादक को यदि 124 धारा

का शिकार न हो जाना पड़ता तो 'हिन्दी प्रचारक' (मासिक) के साथ वह राजनैतिक मार्ग से राष्ट्रभाषा का प्रचार करने में खूब सहायक होता।

इन्दौर साहित्य सम्मेलन के सभापति के मंच से आप ने जो छोटा पर मार्के का व्याख्यान पढ़ सुनाया है, उसको उद्धृत करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है, उस में की राष्ट्रभाषा के भिन्न भिन्न पहलू पर उन्होंने अपने अनमोल विचार प्रकट किये हैं और हिन्दी भाषियों में सुप्रसिद्ध हैं। व्याख्यान तैयार करने की हालत का कुछ वर्णन न यहाँ कर देना मनोरंजक होगा। यद्यपि महात्मा जी ने पिछले साहित्य सम्मेलनों की रिपोर्ट मँगा ली थी पर खेड़ा आन्दोलन में लगे रहने के कारण रतलाम स्टेशन तक उनका कुछ भी उपयोग वे न कर सके। रतलाम से इंदौर कोई 40-50 मील है और अहमदाबाद से आते समय वहाँ गाड़ी बदलनी पड़ती है। वहाँ उन के मंत्री भाई महादेव देसाई ने उन्हें भाषण तैयार करने की याद दिलाई। वे लिखाने बैठ गये। महादेव भाई लिखने लगे। महादेव भाई उस समय हिन्दी इतनी जानते थे कि महात्मा जी की हिन्दी को भी अधिक अशुद्ध कर देने में सहायक होते थे। इन्दौर पहुँचने तक व्याख्यान तैयार हो गया; पर भाषा की दृष्टि से वह महात्मा जी को पसन्द न आया, तब श्री रमाकान्त मालवीय की कलम ने उसे वर्तमान रूप में परिणत किया। इस से महात्मा जी की दृढ़ निश्चय, कार्यलीनता और कार्य-शक्ति का पता चलता है। और राष्ट्रभाषा के प्रचार का उत्साह तो स्पष्ट ही दिखाई देता है। क्या हिन्दी राष्ट्रभाषा हो सकती है?इस पर भारत के भिन्न भिन्न विद्वानों से जो सम्मतियाँ मँगाने की व्यवस्था आप ने की थी उसकी उपयोगिता का उल्लेख भी यहां कर देना आवश्यक है।

हिन्दी में महात्मा जी को तुलसीदास जी का रामचरितमानस बड़ी ही प्रिय है। 1901 में आप रामायण पढ़ने लगे और जब तक रामायण का भजन पठन फीनिक्स आश्रम में हुआ करता। आज भी यहाँ आश्रम में प्रार्थना के समय हिन्दी भजना का खूब रसास्वादन मिलता है।

महात्मा जी के हिन्दी भाषण सुनने का सौभाग्य तो उत्तर भारत के प्रायः प्रत्येक बड़े शहर और उस के आसपास के लोगों को मिला होगा। वे उतनी ही खूबी और प्रभाव के साथ हिन्दी में अपने भावों को व्यक्त कर सकते हैं और उनके इस हिन्दी प्रेम का परिणाम उन के सब से छोटे पुत्र भाई देवदास गाँधी पर तो इतना हुआ है कि उन्हें हिन्दी बोलते हुए या भाषण करते हुए भाषा के द्वारा, सहसा कोई नहीं पहचान सकता कि ये गुजराती हैं।

राष्ट्रीय महासभा में हिन्दी का प्रवेश उन्हीं के परिश्रम का फल है। उन्हीं के आवाज उठाने के बाद अंग्रेजी भाषा के भोजन से पली पुसी महासभा में हिन्दी के भाषण सुनाई देने लगे और महासभा की विषय निर्वाचिनी समिति में हिन्दुस्तानी की भरमार रहने लगी थी। राष्ट्र भाषा के प्रवेश के बदौलत ही महासभा जनता की महासभा हुई है। महासभा की तमाम कार्रवाई हिन्दी में होने के विषय में देहली की महासमिति में इस सम्मेलन के सुयोग्य सभापति बा. पुरुषोत्तम दास जी टण्डन ने प्रस्ताव उपस्थित किया था। उस पर महात्मा जी के 'यंग इंडिया' में नीचे लिखी टिप्पणी लिखी थी, जिसे मैं 13 नवम्बर, 1921 के हिन्दी नवजीवन' से यहाँ उद्धृत करता हूँ–

''अखिल भारतवर्षीय महासभा समिति में हिन्दुस्तानी अर्थात् सर्वसाधारण की भाषा-बड़ी तेजी के साथ विचार-प्रकाशन का माध्यम होती जा रही है। समिति में ऐसे कई सदस्य हैं जो अंग्रेजी का एक शब्द भी नहीं समझते और मदरास इलाके के कई सदस्य ऐसे हैं जो हिन्दुस्तानी नहीं समझ पाते बंगाल के सदस्य कुछ कठिनाई के साथ हिन्दुस्तानी समझ सकते हैं। वे हिन्दी भाषा में बोलने की आवश्यकता को मानते भी हैं और जब समिति की कार्यवाही हिन्दी में चल रही थी, तब उन्होंने उस पर कोई आपत्ति नहीं की। किन्तु द्रविड़ भाइयों के लिए तो वह एक प्रकार का सचमुच त्याग ही था। गत अधिवेशन में मद्रास के सिर्फ एक ही सदस्य उपस्थित थे और मलावार से भी अधिक लोग नहीं आ सके थे। किन्तु जब सब द्रविड़ सदस्य उपस्थित हों तब तो सचमुच बड़ी भारी कठिनाई होगी, परन्तु फिर भी उसे हल करने का दूसरा कोई मार्ग ही नहीं दिखाई देता; कि द्रविड़ भाई जितनी जल्दी हो सके काफी हिन्दुस्तानी पढ़ लें। जो लोग अंग्रेजी नहीं जानते उन से वो यह अपेक्षा नहीं की जा सकती कि वे अंग्रेजी पढ़ लें, और अब तो सार्वजनिक संस्थाओं की नीति अधिकाधिक यही होनी चाहिए कि उनके ऐसे ही सदस्य रहें जो अंग्रेजी न जानते हों। इसलिये, हिन्दुस्तानी के भावनात्मक अथवा राष्ट्रीय महत्व की बात तो जाने दी दीजिये, यह आवश्यकता तो दिन-ब-दिन अधिकाधिक मालूम होती जा रही है कि राष्ट्र के तमाम कार्यकर्ताओं को हिन्दुस्तानी पढ़ लेना चाहिये और राष्ट्र की तमाम कार्यवाही हिन्दी में ही होना चाहिये।''

यह अच्छी तरह प्रकट होता है कि महात्मा जी द्रविड़ प्रान्तों में तथा महासभा में हिन्दी के प्रवेश और आदर प्राप्त कराने में कितने प्रयत्नशील और कितने उत्सुक रहते थे।

राष्ट्रभाषा के आदर और प्रचार की दृष्टि से महात्मा जी का सब से अन्तिम प्रयत्न है ''हिन्दी नवजीवन''। यद्यपि महात्मा जी को स्वयं उसमें लिखने का अवकाश तो नहीं मिलता था 'यंगइंडिया' और 'नवजीवन' के लेखों का अनुवाद ही प्रायः उसमें रहता था, तथापि छः ही सात महीने में उसकी ग्राहक संख्या 12000 हो गई थी और दस्त-ब-दस्त वह कोई 50000 हजार हाथों में पहुँच जाता था। मदरास, महाराष्ट्र, गुजरात, आसाम, बंगाल, वर्मा तथा विदेशों में भी राष्ट्रभाषा के द्वारा उनके सन्देश पहुँचते थे और अब भी थोड़े बहुत अंशों में पहुँचते हैं। पहले अंक के लिए महात्मा जी ने जो आरम्भिक लेख लिखा था उसमें आप लिखते हैं—

''यद्यपि मुझे मालूम है कि 'नवजीवन' को हिन्दी में प्रकाशित करना कठिन काम है। तथापि मित्रों के आग्रहवश और साथियों के उत्साह से 'नवजीवन' का हिन्दी अनुवाद निकालने की धृष्टता मैं करता हूँ। मेरे विचारों पर मेरा प्रेम है। मेरा विश्वास है कि उन के अनुकरण से जनता को लाभ है। इसलिए उनको हिन्दी में प्रकट करने की इच्छा मुझे बहुत समय से थी। किन्तु आज तक परमात्मा न उसे सफल नहीं किया था। हिन्दुस्तानी को भारतवर्ष की राष्ट्रीय भाषा बनाने का प्रयत्न मैं, हमेशा करता आया हूँ। हिन्दुस्तानी के सिवा दूसरी भाषा राष्ट्रभाषा नहीं हो सकती। इसमें कुछ भी शक नहीं। जिस भाषा को करोड़ों हिन्दू मुसलमान बोल सकते हैं वही अखिल भारतवर्ष की सामान्य भाषा हो सकती है और उस से जब तक 'नवजीवन' न निकाला गया तब तक मुझे दुख था।''

'राष्ट्रभाषा और महात्मा गांधी' विषय पर लेख लिखते समय तीन प्रश्न प्रधानतः उपस्थित होते हैं–

1. महात्मा जी का ध्यान राष्ट्रभाषा के महत्त्व की ओर क्यों गया?हिन्दी को ही उन्होंने राष्ट्र भाषा के योग्य क्यों समझा? उस के सम्बन्ध में उन्होंने कहाँ कहाँ क्या चर्चा की और क्या प्रयत्न किया? पूर्वोक्त लेख में मैंने अपनी अल्पमति और शक्ति के अनुसार जो कुछ विवेचन और वर्णन किया है उस में इन तीनों प्रश्नों का संक्षिप्त उत्तर आ जाता है। गोस्वामी तुलसीदास जी यदि रामचरित मानस की रचना कर के यह साबित कर गये हैं कि हिन्दी भाषा में भाववाहन का कितना सामर्थ्य है तो महात्मा जी ने अपने आचरण और प्रयत्न के द्वारा जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है, यह साबित कर दिया है कि हिन्दी ही अकेली और अवश्य राष्ट्रभाषा हो सकती है और द्रविड़ जैसे प्रान्तों में भी हिन्दी का प्रवेश यत्न करने पर असाध्य नहीं है।

''सोत्साहस्य हि लोकेषु न किंचिदपि दुष्करम्''

साभार : सम्मेलन पत्रिका

प्रसाद का साहित्य-चिन्तन

– विजयबहादुर सिंह

कोई समाज जब अपने किसी कवि या लेखक को नहीं पहचानता या उसकी उपेक्षा पर उतर पड़ता है, तब प्रकारान्तर से अपनी ही पहचान को मिटाने पर आमादा हो उठता है। पिछले कई दशकों से हमारा यह हिन्दी समाज इतना एकोन्मुखी और तात्कालिकतावादी हो चुका है कि यह भी भुला दिया है कि यह देश और समाज बहुलतावादी रहा है। वैविध्य इसके अवचेतन की मूल प्रकृति में है। इसी में इसकी परम स्वतंत्रता का रहस्य ही नहीं, सौन्दर्य भी छिपा है। एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।

इस पृष्ठभूमि पर छायावादियों को लेकर अगर हम सोचें तो खड़ी बोली के शुरूआती कवियों और लेखकों की तुलना में उनकी न केवल सांस्कृतिक उपस्थिति बल्कि उनका विशिष्ट काव्य-व्यवहार हमारे परम्परागत जीवन-संगीत की याद दिलाता, साथ ही रक्षा भी करता है। इसे हम चाहें तो राष्ट्रकवि गुप्त और हरिऔध के साथ प्रसाद और निराला को रखकर देख सकते हैं। पहले के दोनों कवि भले ही अपने पिछले कवियों के मुकाबले नये पथ का प्रवर्तन करते हों पर चेतना के स्तर पर पहले के भारतेन्दु उनसे कहीं आगे हैं। अकारण ही नहीं प्रसाद इन दोनों को लाँघकर भारतेन्दु से अपना रिश्ता जोड़ते हैं। आश्चर्य तो तब होता है, जब मैथिलीशरण गुप्त और माखनलाल चतुर्वेदी जैसे कवियों के होते हुए भी 'दूसरा सप्तक' के कवि भवानीप्रसाद मिश्र अपना रिश्ता भारतेन्दु से जोड़ते हैं। सोचना पड़ता है कि आखिर भारतेन्दु में वह कौन सी ऐसी महत्त्वपूर्ण बात है, जो इन दोनों में नहीं है और बाद के कवियों को लुभा नहीं पाती।

जहाँ तक उनके गद्य का सवाल है, उसमें प्रमुखतः नाटक, कहानी और निबन्ध को लें, तो भारतेन्दु के बाद प्रसाद आते हैं। एक ऐसा गद्य जो कला चिन्तन से लेकर सांस्कृतिक और दार्शनिक विमर्श से गुरुआया हुआ है। सबसे ज़्यादा तो वह इसलिए चमत्कृत करता है कि जीवन के अनेक नये-पुराने चिन्तन, साथ ही दृष्टि की अभिनवता से भरपूर और परम्परा को पुनर्नवता प्रदान करते हुए। इतिहास, दर्शन, राजनीति और काव्य-कला पर उनकी जैसी दुर्लभ निगाह रही, उसके दस्तावेज़ हमारे पास मौजूद हैं। अपने इस बौद्धिक प्रकर्ष से वे अपने गद्यकार का जो व्यक्तित्व रेखांकित करते हैं, वह मध्यकाल के तुलसी जैसे महत्तर कवियों के बाद अन्य किसी के पास शायद ही नज़र आए। वे अपने समय के ऐसे लेखक हैं, जिनसे न तो पूरी तरह अज्ञेय संवाद करते हैं, न निर्मल वर्मा या कोई अन्य।

प्रेमचन्द ने ज़रूर एकाध मुठभेड़ें करने की पहल की, पर जल्दी ही अपनी चूकों का अनुभव कर न केवल हट गये, बल्कि बम्बई के फ़िल्म-संसार पहुँच प्रायश्चित सा करते हुए एक अक्टूबर उन्नीस सौ चौंतीस को प्रसाद जी से यह अनुरोध करने पर भी उतर आए कि वे सीता पर एक फ़िल्म लिख दें, जो हिमांशु राय के लिए मौजूँ हो सकेगी।

प्रेमचन्द की पूर्व धारणा थी कि पूर्वजों की कीर्ति का भविष्य के निर्माण में भाग होता है, लेकिन अब तो नये सिरे से जो दुनिया बनाना है, उसमें यह सब शायद ही उपयोगी और सार्थक हो। एक हद एक तो नहीं, पर एक दृष्टि से प्रेमचन्द सही भी थे और वे तर्क देते हुए आवेश की भाषा में कह रहे थे कि– 'हम किस बात पर गर्व करें, वर्णाश्रम धर्म पर, जिसने हमारी जड़ खोद डालो।' पहले इसी पत्र में जो चौबीस जनवरी उन्नीस सौ तीस, हंस कार्यालय, काशी से लिखा गया, वे 'कंकाल' पर प्रसाद को बधाई देते हुए लिख रहे थे कि उसे पढ़कर वे न केवल मुग्ध हो गए, बल्कि जो उनकी पुरानी शिकायत थी कि नाटक में वे गड़े मुर्दे उखाड़ते हैं, वह भी दूर हो गई। इसी पत्र में वे यह भी बेहद साफ़गोई से लिखते हैं कि ऐसा लिखने पर उन्हें काफी सजा मिली थी। वह सजा क्या थी? यह तो पता नहीं, पर प्रेमचन्द ने भारतीय समाज और व्यवस्था को लेकर जो सवाल उठाए थे, वह तो इस प्रगतिशील स्मार्ट भारत में दशकों से और गहराता ही चला गया है। फिर प्रसाद जी उक्त वर्ण-व्यवस्था को अपने लेखन में शायद ही कभी मंजूर करते दिखते हों, जो जन्मवादी थी। क्या स्कन्दगुप्त, ध्रुव स्वामिनी और क्या चन्द्रगुप्त नाटक में जब भी यह प्रश्न प्रसंगतः आया उन्होंने उसकी पुनर्व्याख्या ही की। अतीत से वे क्या उठाते हैं, क्यों उठाते हैं? किन तर्कों के तहत उठाते हैं, इसका अध्ययन, शोध और इससे संवाद शायद इसलिए घटित नहीं हो सका क्योंकि पुनरुत्थानवाद और नवजागरणवाद के बावजूद इन गम्भीर विमर्शों में उलझना जाने क्यों हमारी पीढ़ी को ज़रूरी महसूस नहीं हुआ। प्रसाद जी को तब अकेले और निर्द्वन्द्व रहना ही रहना था। आज तो जातिवाद समकालीन भारत का एक भयावह सच बन चुका है।

मेरी अपनी समझ से समकालीन हिन्दी में पुरोहिती पौराणिक मानस, सुविधावदियों और कर्मकाण्डवादियों के लिए अधिक मुनाफ़े का कारोबार लगता है। किसी ने भी यह नहीं सोचा कि रामायण और महाभारत में धर्म-अधर्म, नीति-अनीति, कर्म-अकर्म, साथ ही वर्ण-व्यवस्था के उत्पीड़क चरित्र पर हमारे पुरखों की जो चिन्ता है, उसका हमसे भी कोई रिश्ता है या नहीं? क्यों शम्बूक, कर्ण, एकलव्य आदि की कल्पना और आयोजना की गई? हमारी चिन्ता के केन्द्र में ये अपने सवालों को लेकर कभी रहे ही नहीं। अगर रहे भी तो परिप्रेक्ष्य बदल दिए गए। एकाध दो जो काम हुए भी वे उतने प्रभावकारी साबित नहीं हुए। यह तो कहने की ज़रूरत ही नहीं कि नये-नये वैचारिक आन्दोलनों को अपनी क्रान्तिकारिता, जन-समर्पण, कला-सूक्ष्मता के तहत प्रयुक्त किया गया। गाँधी-लोहिया या फिर अन्य जो इस देश के किताबी यथार्थ से बाहर देख रहे थे, उनसे सम्पर्क-संवाद सिर्फ़ अकेले आलोचक रामविलास शर्मा ज़रूर कर रहे थे, जिन्हें अपने ही वैचारिक खेमे में इतिहास का शव-साधक और गपोड़ी तक कह दिया गया। बजाय इसके अगर उनसे संवाद करने का बौद्धिक पुरुषार्थ किया जाता

तो शायद हमारे काम का और भी कुछ निकलता। हिन्दी साहित्य के लिए अम्बेडकर अभी भी एक नये चिन्तक नहीं, जाति-विशेष के चिन्तक ही माने जा रहे हैं। आश्चर्य तो यह कि हमें यूरोपीय और अमरीकी चिन्तन तो अपने लिए बेहद सम्मोहक और काम का लगता है पर अम्बेडकर का नहीं। इसका क्या रहस्य है, इस पर भी शायद कोई कभी सोचे। क्यों हिन्दी साहित्य लगभग आधी से अधिक सदी से अपने ही वैचारिक तेज से मुँह चुराते हुए फूको और देरिदा का मंगलसूत्र लटकाये घूम रहा है? क्या हमारी सम्पूर्ण परम्परा अब कचराघर के योग्य भर बची है? फिर कोई क्यों नहीं कथाकार व्योमकेश शास्त्री और निबन्धकार हजारीप्रसाद से यह पूछने को खड़ा होता है कि ये पुनर्नवा, अनामदास का पोथा या फिर 'अशोक के फूल' में तुम क्या सब कर रहे हो? क्या आचार्य शुक्ल, क्या आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी या फिर विजय देवनारायण साही की दिशाओं पर बहुतों का अपने विचारों का आरोपण अधिक ही किया गया। द्विवेदी जी जिस 'जातीय साहित्य' या वाजपेयी जी 'राष्ट्रीय साहित्य' की माँग और अवधारणा प्रस्तुत कर रहे थे, उसकी ओर न आलोचना ने देखा, न सतही अकादमिक पोंगा-पंथियों ने।

दूसरी ओर प्रसाद का गद्य पढ़ते हुए यह उथल-पुथल दिमाग में मचती तो है। प्रत्येक प्रश्न पर उनकी अपनी तर्कपूर्ण स्वतंत्र दृष्टि है और प्रतिपादन भी। यह प्रश्न चाहे कविता में रहस्यवाद को लेकर हो या फिर नाटक और रंगमंच, यथार्थवाद और छायावाद तथा काव्य-कला को लेकर। अगर हम आचार्य शुक्ल और महाकवि प्रसाद के बीच चली केवल बहस- काव्य में रहस्यवाद- को देखें तो पता चलेगा कि शुक्ल जी तो कभी-कभी आक्रोशित भी होते दिखते हैं, किन्तु प्रसाद तो कभी नहीं। यों दोनों ही सधे हुए संवादियों की तरह आमने-सामने जैसे खड़े हैं, जिससे पता चलता ही है कि छायावाद का प्रवर्तक कवि कोरा भावुकतापरकता का कवि नहीं है। उसे तर्क भी सिद्ध है। प्रसाद का चिन्तनात्मक गद्य पढ़कर यह समझ में आता है कि उनका यह गद्य किन-किन ज्ञान-भूमियों से चलकर आता है। वे वाङ्मय-विशारद भी थे।

रहस्यवाद सम्बन्धी शुक्ल जी की पुरुषार्थपूर्ण विवेचना पर विचार करते हुए एक सर्वथा नये आलोचक विनोद शाही ने अपनी 'जयशंकर प्रसाद : एक पुनर्मूल्यांकन' शीर्षक पुस्तक में लिखा-- ''यह जो शुक्ल जी की रहस्यवाद सम्बन्धी समस्या है, वह एक 'मूल भ्रम' की तरह परवर्ती हिन्दी समीक्षा को दिग्भ्रमित करने के लिए पर्याप्त सिद्ध हुई है।'' आलोचक विनोद शाही छायावादी रहस्यवाद की चेतना को साम्राज्यवाद के शिकंजे से निकलने और मुक्ति के आकाश में विचरने की एक जातीय मनोदशा के रूप में देखते हैं। छायावादी रहस्यवाद को लेकर उनके और भी कई अनकूल तर्क हैं। पर यहाँ वह सब शायद ही प्रासंगिक हो। मुख्य प्रश्न तो चिन्तक कवि प्रसाद का वह प्रवर गद्य है, जिसे पढ़ते हुए हमारी आँखें तो क्या हमारा अपना विवेक-पौरुष तक चकित हो उठता हैं। यहाँ मैं उनके द्वारा आधारभूत ढंग से ग्रहीत और प्रतिपादित उस 'आनन्दवाद' की चर्चा करना चाहूँगा जिसे कुछेक हवाई उड़ान भरने वाले लोगों ने उसे बाद पलायन का एक झरोखा कह अपनी-अपनी पीठ खुद

ही ठोक ले रहे थे। मुझे यह कैसे भी हक़ नहीं कि मैं उनकी पात्रता-अपात्रता पर विचार करूँ। पर प्रसाद जी का अपना पक्ष यहाँ ज़रूर प्रस्तुत करना चाहूँगा।

अपने अन्तिम किन्तु अधूरे उपन्यास 'इरावती' में वे बुद्धवाद और वैदिक आर्यों के आनन्दवाद को जीवन-व्यवहार के धरातल पर उठाते हुए दोनों की संगति-असंगति पर विचार करते हैं। सन्दर्भ वे ईसापूर्व से लेते हैं, अन्तिम मौर्य सम्राट वृहस्पति के समय से। यह अशोक का ही खानदानी है जिसका महादण्डनायक पुष्यमित्र शुंग मालवा-प्रान्त के विदिशा का निवासी है। उसका पुत्र अग्निमित्र वही है जिस पर कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्र' नाम से नाटक रचा है। 'इरावती' भी है तो मालवांचल से ही है, पर विपरीत परिस्थितियों की चपेट में आकर न जाने कहाँ-कहाँ भटकने को लाचार है। अग्निमित्र से उसके भाव-सम्बन्ध सर्वविदित हैं।

उपन्यास में ब्रह्मचारी और अग्निमित्र की एक बातचीत है जिसे ज़रूरत भर उद्धृत करने की अनुमति चाहूँगा—

''ब्रह्मचारी ने कहा— ''अग्निमित्र! अब मैं पर्यटन के लिए बाहर जाना चाहता हूँ...

डाँड़ चलाना बन्द कर अग्निमित्र ने कहा— ''ऐसा क्यों गुरुदेव!''

इसलिए कि मुझे अपनी आँखों से देखना होगा कि आर्यवर्त्त में कहीं पौरुष बच गया है। कहीं तेज किसी राख में छिपा तो नहीं है।...

''किन्तु क्या वह कोई नया रहस्य है भगवन!''

''नहीं है तो वह चिरन्तन। किन्तु अब जीर्ण हो चला है। नवीनता का उस पर आवरण चढ़ाना होगा। आर्य-धर्म का आरम्भिक उल्लासमय स्वरूप यद्यपि अभी एक बार ही नष्ट नहीं हो गया है, फिर भी उसे जगाना ही पड़ेगा।... मुझे ऐसा मालूम होता है कि प्राचीन आर्य वीर संस्कृति को लौटाने के लिए प्राचीन कर्मों को फिर से आरम्भ करना होगा, जिन्हें विवेक के अतिवाद के कारण मानवता के लिए हमने हानिकर समझ लिया था।'' यहाँ मुझे विवेकानन्द का यह वैदिक उद्घोष याद आ रहा है- 'उठो जागो और अपने पुरुषार्थ को प्राप्त करो।'

''मैं नहीं समझ सका।'' (यह अग्निमित्र कह रहा है।)

सर्वसाधारण आर्यों में अहिंसा, अनात्म और अनित्यता के नाम पर जो कायरता, विश्वास का अभाव और निराशा का प्रचार हो रहा है, उसके स्थान पर उत्साह, साहस और आत्मविश्वास की प्रतिष्ठा करनी होगी।'' आप चाहें तो यहाँ निराला की कविता 'जागो फिर एक बार' याद कर सकते हैं।

(यहाँ मैं कवि-कथाकार, साहित्य और संस्कृति चिन्तक प्रसाद पर आँख मूँद आरोप-एक हद तक निराधार आरोप लगाने वालों की ज़रूर याद करना चाहूँगा जो सम्पूर्ण पूर्वपक्ष को जाने-समझे बिना ही फतवेवादी आलोचना का पौरुष प्रदर्शित करते हैं।)

ब्रह्मचारी के कथनों पर अग्निमित्र की जिज्ञासा है—''किन्तु क्या प्रचलित शिष्ट आचारों को भी आप नष्ट कर देंगे? इस विवेक ने हमको बहुत-सी नई योजनाएँ दी हैं। नये विचारों का मानवता में समावेश हुआ है।'' अग्निमित्र का इशारा बौद्धवाद को लेकर है।

''अग्निमित्र! अच्छा क्या है और बुरा क्या है? इसका निर्णय एकांगी दृष्टि से नहीं किया जा सकता। विष, चिकित्सक द्वारा अमृत-कल्प हो जाता है। भगवान की विराट विभूति में से हम निस्संदिग्ध वस्तु का चुनाव नहीं कर सकते, उसकी मात्रा को समझ लेना ही हमारा पुरुषार्थ साधारण है। किन्तु एक दिव्य अति भाव है। वह है आत्मा की अग्नि! जिसमें अंधकार ईंधन बनकर जलता है। उस तेज में सब विशुद्ध, दिव्य और ग्राह्य हो जाता है। आनन्द की यही योजना अपनी विचार-पद्धति में ले आने की आवश्यकता है। भय से फैले हुए विवेक ने हमारी स्वाभाविकता का दमन कर लिया है।... हम आत्मवान हैं, हमारा भविष्य आशामय है, इस आर्य-भाव का प्रचार आवश्यक है।'' (प्रसाद वाङ्मय, पृ.-449, सं.– सत्यप्रकाश मिश्र)

वैसे तो प्रतिभाओं और विद्वानों की इस सभा को याद दिलाने की ज़रूरत नहीं, किन्तु अनुचित भी नहीं कि यह बौद्ध शासन-काल वाला समय है।

विवेकवाद, दुखवाद या विरागवाद की यह दर्शन धारा बौद्ध और जैन धर्म और सिद्धान्त को लेकर आती है। 'काव्य-कला तथा अन्य निबन्ध' के 'रहस्यवाद' वाले आलेख को इस सन्दर्भ में दुबारा देखे जाने की ज़रूरत है। इससे पहले तो यही पता चलेगा कि विश्व-धर्म और दर्शन की कैसी जानकारी प्रसाद को थी। समझ भी। बौद्धों और ब्राह्मणों के बीच के तनाव की व्याप्ति स्कन्दगुप्त और चन्द्रगुप्त नाटकों में भी है। प्रसाद स्वयं इस अनात्मवाद से असहमत थे। निराला, महादेवी के अलावा, यहाँ तक कि केदारनाथ अग्रवाल और मुक्तिबोध तक की कविता में यह आत्मा क्यों, किस अर्थ में आती है, इस पर भी हमारा ध्यान सहसा चला जाता है। मुक्तिबोध अपने जीवन-आचारों में कुलकर्णी ब्राह्मण थे ही। नैष्ठिक क्रियाएँ भी वे करते ही थे। आत्मसंभवा से अलग आत्मचेतस् शब्द का भी प्रयोग वे करते हैं। लेकिन क्यों?

प्रसाद के जिन नाटकों को लेकर प्रेमचन्द का आरोप था कि वे गड़े मुरदे उखाड़ते हैं, उन्हीं नाटकों को लेकर मुक्तिबोध का कथन है कि प्राचीन आर्य-बौद्ध कालीन वातावरण की अवतारणा जो प्रसाद के साहित्य में हुई, वह एक आकस्मिकता न थी, कवि की नूतनान्वेषी रुचि का परिणाम न थी। उसका सम्बन्ध था ठीक उसी ऐतिहासिक प्रक्रिया से जिसको मैथिलीशरण ने एक प्रकार से ग्रहण किया, प्रसाद ने दूसरे प्रकार से। वह अतीतोन्मुख स्वप्नवादी प्रवृत्ति न थी, जिसके द्वारा प्रसाद का साहित्य अवतरित हुआ, न वह पलायनवादी मनोभूमिका थी, जिसने आर्य-बौद्धकालीन वातावरण को उपस्थित किया, न वह नियतिवादी अधोमुख प्रवृत्ति थी, जिसने उन्हें कहानियों और नाटकों में उषःकालीन आर्य-बौद्ध संस्कृति की समस्त स्फूर्तिमयी ताजगी और आत्मविश्वास की ओर प्रेरित किया।... प्रसाद की भावना में गरिमा, जीवन के विवेकशील आदर्श तथा उसके श्रेष्ठ मूल्य, और विचारों में एक ताज़गी, स्फूर्ति तथा बल देखने को मिलते हैं।''

मुक्तिबोध आगे यह भी लिखते हैं कि उनके काव्य को लेकर पलायनवाद, नियतिवाद का जो आरोप लगाया जाता है, वह सब आनुपातिक तौर पर बेहद कम या कण-रूप में ही है। 'जिसने मात्र इन दो दोषों को उनकी प्रधान विशेषताएँ माना है, उसने प्रसाद, उनकी प्रेरणा, उनकी शक्ति और सीमा को

नहीं पहचाना।' (रचनावली खण्ड-पाँच, पृ.–41, पेपरबैंक, 1948-50, सम्भावित रचनाकाल : सम्पादक)

मुक्तिबोध की इन पंक्तियों पर दुबारा ध्यान देने पर मैं प्रसाद की 'शक्ति' पर सोचने लग जाता हूँ। क्योंकि उनके पहले बड़े आलोचक नन्ददुलारे वाजपेयी उन्हें शक्ति का कवि और लेखक मानते हैं। फिर उनके नाट्य चरित्रों में मुझे स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, ध्रुव स्वामिनी और अविस्मरणीय चाणक्य, दाण्ड्यायन आदि पात्र याद आते हैं। प्रसाद ने शास्त्र और शस्त्र का यहाँ जिस भाव और अभिव्यक्ति कौशल से साक्षात्कार किया और कराया है, उसके लिए उनकी पूर्व की तैयारियों पर हम विचार करना चाहें तो हमारे होश के पाँव थरथराने लगते हैं। प्रसाद को पलायनवादी, नियतिवादी कल्पनावादी और भाषा की दृष्टि से पीलपाँववादी कहना जितना आसान है– उनकी बौद्धिक गहराइयों के अतल में उतरना उतना ही कठिन और चुनौतीपूर्ण। काव्यकला तथा अन्य निबन्ध से गुज़र कर ही जाना जा सकता है कि वे क्या थे। मुक्तिबोध ने ही तो रचनावली के पाँचवे खण्ड में एक यह बड़ा वाक्य लिखा है– 'उत्कृष्टता बहुत कुछ परम्परा पर निर्भर है।'

जिस साहित्य समाज में लेखकों का बहुमत औपनिवेशिक मानसिकता से ग्रस्त हो या फिर सतही समकालीनता पर वह हास्यास्पद ढंग से आधुनिक, उत्तर आधुनिक होते दावे करता है, किन्तु क्या उसी बल पर वह वृहत्तर भारतीय समाज से एका महसूस कर सकता है, जिसे सचमुच एक नए नवजागरण की ज़रूरत है?

भारत में काव्य की जो परम कसौटी मानी गई है वह रस बोध है, जो साधारणीकरण की प्रक्रिया से घटित होता है। मेरी दृष्टि में रस-बोध अन्य कुछ भी नहीं सिवाय व्यापक और उदात्त कला बोध के। अब अगर प्रेमचन्द, रेणु या उत्तरवर्ती अन्य कवि और लेखक यथा 'असाध्य वीणा' और 'अँधेरे में' स्वयं को केवल साहित्येतर कसौटियों पर कुर्बान करना चाहें तो लोकतंत्र की आज़ादी तो उन्हें मिली ही हुई है पर क्या लोकसमाज ने भी उन्हें यह सर्वतंत्र स्वतंत्रता दे रखी है? आधुनिकता और प्रतिबद्धता कला मूल्य हैं या फिर अनुषंगिक? यह कौन सोचेगा?

हमें इस मुग़ालते में भी क्यों रहना चाहिए कि प्रेमचन्द, प्रसाद या कतिपय अन्यों में राजनीति-बोध था ही नहीं। प्रेमचन्द में तो यह प्रचुर और प्रबल मात्रा में था ही, प्रसाद में भी खूब है। क्यों हमने इस दृष्टि से उनको नाटकों और कहानियों पर कभी विचार नहीं किया? कामायनी की प्रेरणाओं और प्रतिज्ञाओं का क्या कोई सम्बन्ध उन्नीस सौ नौ में गाँधी की 'हिन्द स्वराज' की बहसों से भी हैं? 'हिन्द स्वराज' में क्या असली बहस दो अलग-अलग सभ्यताओं के चरित्र को लेकर नहीं है? 'चन्द्रगुप्त' नाटक में चाणक्य अपने शिष्य चन्द्रगुप्त और सिंहरण को जो नसीहतें देते हैं, वे क्या और किस सन्दर्भ में हैं? फिर चन्द्रगुप्त के पास शस्त्र बल के साथ अपना शास्त्र बल भी है। अपने मालव साथी सिंहरण से वह कहता है- 'यवन लोग आर्यों की रणनीति से नहीं लड़ते/वे हमीं लोगों के युद्ध हैं, जिनमें रणभूमि के पास ही कृषक स्वच्छन्दता से हल चलाता है। यवन आतंक फैलाना जानते हैं और उसे अपनी रणनीति का प्रधान अंग मानते हैं। निरीह साधारण प्रजा को लूटना, गाँवों को जलाना उनके

भीषण परन्तु साधारण कार्य हैं।' प्रसाद को ये अनुभव अपने समय में भी हुए होंगे, अठारह सौ सत्तावन के विवरणों से भी। अन्ततः चन्द्रगुप्त एक महत्त्वपूर्ण निर्णय करता है, हमें शत्रु की ही नीति से युद्ध करना होगा।

गाँधी ने अगर उस सभ्यता को 'हिन्द स्वराज' में राक्षसी या शैतानी कहा तो यह बेहद तीखा शब्द प्रयोग यद्यपि उनके अहिंसक स्वभाव के सन्दर्भ में खटकता है, पर सोचने को मजबूर भी करता है। एक ओर हमारे कई समकालीन लेखक और विचारक खुद इस ग्लोबल मोनो-कल्चर से चिंतित और परेशान हो उठे हैं, पर दूसरी तरफ कथित इण्डिया तो बुरी तरह उसकी चपेट में है। उसे इस देश की सनातन विविधता से जैसे कोई लेना-देना ही नहीं। एक हद तक वे यह भी मानते हैं कि न केवल चिन्तन बल्कि इस देश को समझने की दृष्टि भी उन्हीं के पास है। और यह इस देश की त्रासद विडम्बना है। उन्हें हमारी अपनी जातीय अथवा राष्ट्रीय बौद्धिकता और चिन्तन-परम्परा पर कोई यकीन नहीं, जिसकी याद प्रसाद का लेखक दिलाता है और जो लोग आज इसकी दावेदारी करते बेहद आक्रामक और हिंसक तरीके से आगे आ रहे हैं, शक होता है कि उनका भी कोई खूनी रिश्ता चाणक्य, चन्द्रगुप्त अथवा गाँधी से है। इनकी सोच-समझ की जड़ें मूल परम्पराओं में हैं ही नहीं। तब प्रसाद जैसे संस्कृतिवेत्ता, कवि दार्शनिक भला उनके किस काम के ठहरेंगे?ऐसे आधुनिक भारतीय हिन्दूवादी बुद्धिजीवियों पर सोचते हुए चिन्तक किशन पटनायक लिखते हैं–'भारतीय बुद्धिजीवी को जब पश्चिमी सभ्यता अधूरी लगती है, तब वह प्राचीनता की किसी गुफा में घुस जाता है और जब वह अपनी सभ्यता के बारे में शर्मिन्दा होता है तब पश्चिम का उपनिवेश बनकर रहना स्वीकार लेता है।' दोनों सभ्यताओं से संघर्ष करने की प्रवृत्ति उसमें अभी तक नहीं ही विकसित हुई हूँ। उनके अनुसार रवि ठाकुर के लोग अँग्रेज और अँग्रेजियत के भक्त हो गए। गाँधी के अनुयायी गुफाओं में चले गऐ। असल सच यह कि 'औपनिवेशिक दिमाग नवनिर्माण की तकलीफ को बरदाश्त ही नहीं कर सकता। ज़्यादा से ज़्यादा वह प्रचलित और पुरानी धाराओं को साथ-साथ चलाने की कोशिश करता है और दोनों के लिए कम से कम प्रतिरोध की रणनीति अपनाता है।' बकौल किशन पटनायक 'उसका क्लीत्व यहीं से उत्पन्न होता है।'

ऐसा बौद्धिक वर्ग दो गली मानसिकता का दुखद नमूना होता है वह अपने विचारों की मूर्ति पूजा और दूसरे के विचारों की अंध आलोचना को जीता है। 'कामायनी' को लेकर मुक्तिबोध का पुनर्विचार कुछ इसी तरह की एकांगिता और अतिवाद से भरा है, जिसका प्रतिरोध दूसरे मार्क्सवादी रामविलास शर्मा को करना पड़ा। इस पर नामवर सिंह अन्य आलोचकों की चुप्पी बौद्धिक पुरुषार्थ तो नहीं ही कही जाएगी।

प्रसाद जो सभ्यता चिन्तन और नवनिर्माण करना चाहते थे उसका सम्बन्ध एक तरफ तो अपनी देशी जड़ों और गाँधी से था तो दूसरी तरफ एक अर्थ में पश्चिम की उस भोगवादी सभ्यता से, जिसके हाथों हमने स्वयं को बेच डाला है। प्रसाद जैसे लेखक यहाँ हमारे प्रकाश स्तम्भ बन सकते हैं।

शुक्ल जी और प्रसाद जी में एक और बहस कला और सौन्दर्य दृष्टि को लेकर है– शुक्ल जी

मानते हैं कि 'जैसे वीर-कर्म से पृथक वीरत्व कोई पदार्थ नहीं, वैसे ही सुन्दर वस्तु से पृथक सौन्दर्य कोई पदार्थ नहीं।' विपरीत इसके प्रसाद जी की सोच और दृष्टि अधिक तर्कसंगत और शास्त्रोचित समीपत लिए हुए है। जिसकी चर्चा मैं प्रसाद के मूल-कथन के बाद करना चाहूँगा।

फिर 'काव्य कला तथा अन्य निबन्ध' में वे लिखते हैं– 'हमारे साहित्य का आरम्भ काव्यमय है। वह एक द्रष्टा कवि का सुन्दर दर्शन है। संकल्पात्मक मूल अनुभूति कहने से मेरा जो तात्पर्य है, उसे भी समझ लेना होगा। आत्मा की मनन शक्ति की वह असाधारण अवस्था, जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व में सहसा ग्रहण कर लेती है। काव्य में संकल्पात्मक मूल अनुभूति कही जा सकती है।'

प्रसाद के इस कथन को समझने के लिए थोड़े सरल कथनों की ओर आया जा सकता है और उर्दू शायरी से भी तमाम कवि कथन याद किए जा सकते हैं। इधर पहले जो काव्य पंक्ति ध्यान में आ रही है वह है-- 'रूप रिझावनुहार हैं ये नैना रिझवार।' यानी सौन्दर्य देखने वाले के आँखों में भी रहा करता है। ग़ालिब आदि शायर लिखते ही हैं– 'बड़ी मुश्किल से होता है चम में दीदावर पैदा'। प्रसाद के मत से अवध के कवि कबीर की याद करें तो कबीर एक और गहरी बात अत्यन्त सरल ढंग से कहते हैं–

सुखिया सब संसार है, खावै अरु सोवे।
दुखिया दास कबीर है, जागै अरु ऐवै।।

सोचना पड़ता है कि संसार तो सबका एक ही था पर सुख से सोने वालों को वह दुख क्यों नहीं अनुभव हो रहा था जो कबीर का अपना अनुभव था, जबकि दुनिया तो एक ही थी। आधुनिक कवि भवानी मिश्रा एक कविता में कहते हैं– 'मैंने नहीं देखा/तब कहाँ था आकाश/मेरे चलने से/पथ हुआ है पथ.../तब अगर प्रसाद कहते हैं कि काव्य दृष्टा कवि का सुन्दर दर्शन है, तो गलत कैसे है?'

अपने महत्त्वपूर्ण आलेख में वे और कई महत्त्वपूर्ण बातों का उल्लेख करते हैं, जैसे कि भारतीय दृष्टि में काव्य चौसठों कलाओं की तरह उपविद्या नहीं बल्कि विद्या है। उसके साथ अगर किसी की बराबरी सम्भव है तो वह संगीत है। दूसरे वे यह कहते हैं कि भारतीय साहित्य में दुखान्त और तथ्यवादी साहित्य को परम्परा से तिरस्कृत मानने वाले यह आलोचकगण महाभारत और रामायण की ओर से अपनी आँखें बंद कर लेते हैं? उनका वाक्य है- ये सब भावनाएँ साधारणतः हमारे विचारों की संकीर्णता से और प्रधानतः अपनी 'स्वरूप विस्मृति' से उत्पन्न हैं। इससे पहले वे हेगेल आदि की सौन्दर्य दृष्टि और भारतीय सौंदर्य चिन्तकों पर विचार कर चुके हैं। तभी वे निष्कर्षतः कुछ आग्रह हमसे करते हैं- 'हमें अपनी सुरुचि की ओर प्रत्यावर्तन करना चाहिए। क्योंकि हमारे मौलिक ज्ञान प्रतीक दुर्बल नहीं हैं।' गद्य में वे इसी सांस्कृतिक मोर्चे के नायक हैं।

कविता में रहस्यवाद को लेकर भी वे इस दृष्टि और प्रक्रिया पर लम्बी बहस कर चुके हैं। स्पष्ट ही यह शुक्ल जी से है, जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है। इस बहस पर अधिक केन्द्रित हुआ जा सकता है पर अन्य मुद्दे भी हैं जिनकी चर्चा लाजिमी है। एक बहस विवेकवाद या बुद्धिवाद और आत्मवाद की है। यहाँ भी शुक्ल जी और प्रसाद जी अपनी-अपनी स्वतंत्र दृष्टि को लेकर आमने-सामने

हैं। रहस्यवाद वाले आलेख में भी इसकी चर्चा आ ही चुकी है। 'कामायनी' को लेकर शुक्ल जी की जो आपत्तियाँ हैं उनके मूल में यह बहस भी है।

प्रसाद जी द्वारा यह लक्षित किए जाने पर कि आलोचकगण नयी काव्य चेतना को पहचानने और समझने के लिए बहुधा पश्चिम की ओर चले जाते हैं। इस सन्दर्भ में शुक्ल जी की कामायनी सम्बन्धी यह टिप्पणी हमारा ध्यान खींचती है–'बुद्धि की विगर्हणा द्वारा बुद्धिवाद' के विरुद्ध उस आधुनिक आंदोलन का आभास भी कवि को इष्ट जाना पड़ता है, जिनके प्रवर्तक अनातोले फ्रांस ने कहा कि 'बुद्धि के द्वारा सत्य को छोड़कर और सब कुछ सिद्ध हो सकता है। बुद्धि पर मनुष्य को विश्वास नहीं होता।'

ये वही शुक्ल जी हैं, जो अपने 'रहस्यवाद' वाले महानिबन्ध में रहस्यवादियों से कह रहे हैं–हमें अपनी दृष्टि से दूसरे देशों के साहित्य को देखना होगा। दूसरे देशों की दृष्टि से अपने साहित्य को नहीं। (पृ.-155, चिन्तामणि-दो)

प्रसाद जी पहले ही आलोचकों पर यह आरोप लगा चुके हैं कि उनकी दृष्टि संकीर्ण और स्वरूप आत्मविस्मृति में हैं। फिर भी वे बुद्धिवादी चिन्तन और धर्म-साधना के विकास और परिणाम को लेकर कामायनी से लेकर अपनी अंतिम दो कृतियाँ नाटक-अग्निमित्र और उपन्यास 'इरावती' में यह तर्क-वितर्क कर चुके हैं।

शुक्ल जी जैसे प्रवर्तक हिन्दी आचार्य आलोचक पर स्वरूप विस्मृति और संकीर्ण दृष्टि का जो आरोप लगाते हैं वह साधारण नहीं है। ऐसा भी प्रसाद जी नहीं मानते कि भारत में बुद्धिवाद या विवेकवाद था ही नहीं। खासतौर से चाणक्य और इड़ा जैसे चरित्रों के बाद प्रसाद पर ऐसा आरोप बेमानी ही है।

सन् चौंसठ में मैंने अपने गुरु आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, जो प्रसाद के मित्रों में थे, उनसे पूछा था कि आजकल आप इड़ा जैसे चरित्र को क्यों इतना महत्त्व देने लगे हैं। मेरा समाधान करते हुए उन्होंने कहा था कि प्रसाद की यह भविष्य दृष्टि थी कि अब जो सभ्यता आने वाली है, उसकी बागडोर बुद्धि की मुट्ठी में रहने वाली है। 'कामायनी' में मनु और श्रद्धा के पुत्र का हाथ इसीलिए तो इड़ा के हाथ दिया गया है। क्या इतना सा संकेत हम लोगों को नहीं समझ में आना चाहिए। इसके बावजूद एक सुस्थिर चिन्तक की तरह प्रसाद महसूस करते थे कि विराट विश्व का भविष्य अंततः आत्मवादी हाथों में ही सुरक्षित है। आज तो तमाम पर्यावरणवादियों के चिन्तन में इस सभ्यता को लेकर कैसा भय और कैसी चिन्ता और व्याकुलता है इसे जानने वाले जानते हैं। यांत्रिक से होते जाते जीवन को लेकर कैसी-कैसी प्रतिक्रियाएँ हैं, इससे भी हम बेखबर नहीं है। क्या कारण है कि हम पानी और हवा को लेकर बुरी तरह परेशान हो उठे हैं? 'उपनिषदों की कहानियाँ' के लेखक, संस्कृति और पुरातत्त्वविद भगवान सिंह उसकी भूमिका में अपने पुरखों की याद करते हुए लिखते हैं–

'यह ज़माना बीसवीं शताब्दी से उतना ही दूर था, जितना सुपरसोनिक से गधा। रफ़्तार भी वही। हर चीज़ ढीली-ढाली और लोग देखने में गँवार से लगते थे। दाढ़ी बढ़ी हुई, बाल बिखरे हुए

विचार उलझे हुए। पर वे बीसवीं शताब्दी के लोगों की ओर उँगली उठाकर कह रहे थे, उन मूर्खों को देखो वे अधिक खाने के लोभ में अपने समुद्र और आसमान तक को खाते जा रहे हैं। अपने भविष्य को खाते जा रहे हैं और फिर भी अपने को विज्ञानी समझते हैं। वे सब कुछ अपने लिए नहीं चाहते थे। पेट भरने के बाद उनकी भूख तेज नहीं होती थी। वे बहुत कम चीज़ों से डरते थे, बहत अधिक चीज़ों पर भरोसा करते थे और घृणा तो किसी चीज़ से करते ही नहीं थे।'

अगर प्रसाद के शिष्यवत कहानीकार विनोदशंकर व्यास पर भरोसा करें, जो निराला को भी अत्यन्त प्रिय थे, लिखा कि 'सन् 1931 से लेकर 1936 तक अन्य फुटकर कविता, कहानी और लेखों को छोड़कर, प्रसाद जी ने केवल ध्रुवस्वामिनी नाटक, कामायनी महाकाव्य और इरावती अधूरा उपन्यास ही लिखा।'

'इरावती' को लेकर प्रसाद के मित्र और काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के शुक्लोत्तर विभागाचार्य पण्डित केशव प्रसाद मिश्र ने लिखा है कि 'दुख होता है कि उनका ऐतिहासिक उपन्यास इरावती संसार के सामने न आया।' अगर पूरा हो सकता तो हमारी आँखों पर से वर्तमान का परदा हटता और हम प्राचीन भारत के वैभवशाली रूप का साक्षात्कार कर पाते।

प्रसाद का गद्य इसी राष्ट्रीय और सांस्कृतिक चेतना के गम्भीर तेजस्वी, साथ ही पुरुषार्थी बोध से भरा हुआ है। उसका अध्ययन करने की जितनी हममें पात्रता होगी, हम अपने जातीय स्वरूप के गौरव को पहचान पाने के उतने ही योग्य पाए जाएँगे, जो आज की इस सांस्कृतिक गुलामी की स्थिति से उबरने में हमारी मदद भी करेगा।

एम-29, निराला नगर,
दुष्यन्त कुमार मार्ग, भोपाल

मुक्तिबोध : शताब्दी-स्मृति और फैण्टेसी

– रमेश दवे

अधिकांश साहित्यिक विभूतियाँ जीवन काल में शताब्दी-समारोह नहीं बन पाई। यहाँ तक कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रसाद, प्रेमचंद भी लम्बी उम्र नहीं जी सके। मरणोपरान्त शताब्दी-स्मरण अब एक प्रकार की प्रथा बन गई है। निराला और मुक्तिबोध पर जितना उनके अवसान के बाद लिखा गया, जितने प्रसंग महत्त्व या स्मरण-समारोह हुए, उतने यदि उनके जीवन-काल में हुए होते, तो उपेक्षाओं में जीने और मरने के बजाए, अपेक्षाओं में जीते और जीते जी कुछ और ऐसा लिख जाते, जो कालजीवी भी होता और कालजयी भी। मुक्तिबोध के आसपास संघर्ष, पीड़ा, अभाव का त्रिभुज तना हुआ था, इसलिए यह कहा जा सकता है कि मृत्यु उनके लिए ऐसी फैण्टेसी थी, जिसे वे जीवन के यर्थाथ से रचकर फैण्टेसी के अर्थ बदल रहे थे। यथार्थ में जीवन क्या जिया का कवि कह रहा था, जैसे उसने मृत्यु की फैण्टेसी को जीवन दे दिया हो।

2017, मुक्तिबोध का शताब्दी-स्मरण वर्ष है। प्रसंगों, प्रकाशकों, परिचर्चाओं के पारंपरिक प्रायोजित आयोजन होंगे, उन्हें तरह-तरह से व्यक्तिगत संबंधों, सम्पर्कों में या साहित्यिक संस्मरणों में याद तो किया जाएगा, मगर हिन्दी का बौद्धिक और साहित्यिक समाज क्या कभी स्वयं से यह प्रश्न करेगा कि उनके जीवन में उन्हें ठीक से पहचाना क्यों नहीं गया? शुजालपुर (मालवा) मेरे गृहनगर में उनके जीवन को रोटी का आधार देने में यदि नेमिचंद जैन की भूमिका न होती तो शायद मुक्तिबोध का कवि, कथाकार, चिन्तक क्या इस रूप में मिलता कि उनका शताब्दी-स्मरण किया जा सके? इंदौर, उज्जैन, जबलपुर, नागपुर और अन्ततः राजनांदगाँव इन पंच ग्रामों या पंच-नगरों में तपा-खपा मुक्तिबोध का कवि जीवन-तट के बजाए मृत्यु-शय्या पर ही क्यों पहचाना गया, मृत्यु के बाद अशोक वाजपेयी के आयोजन से सतह के नीचे पड़ा एक महाकवि सतह से ऊपर उठकर शताब्दी की स्मृति कैसे बन गया?

शब्द कितना शक्तिशाली हो जाता है, शरीर से कमजोर व्यक्ति का भी इसका उदाहरण है शब्द-समर्थ कवि मुक्तिबोध।

मुक्तिबोध का जन्म-शब्ताब्दी स्मरण वास्तव में तो मरणोपरांत का श्राद्ध-कर्म ही कहा जाएगा। श्राद्ध तो श्रद्धा-भाव है। प्रश्न यह है कि यह श्रद्धाभाव क्या हमारे अंदर मौजूद है? हम तो

उन्हें सम्पूर्ण मुक्तिबोध-कवि व्यक्तित्त्व के बजाए अलग-अलग टुकड़ों में देखने लगे हैं। मुक्तिबोध का एक टुकड़ा मार्क्सवादियों और वामपंथियों के पास है, तो दूसरा उन बौद्धिकों के पास जो, उन्हें अपनी खोज प्रचारित करते हैं। मुक्तिबोध कविता से जितने प्रतिबद्ध थे, शब्द से जितने आस्थाबद्ध थे, और चिंतन से जितने विचार-बद्ध थे, संभवतया उतने किसी व्यक्ति, संस्था या उस विचारधारा से भी नही, जो मार्क्सवाद बन कर उन तक आई थी। ऐसे कवि, कथाकार और कला के तीन क्षणों के रचनाकार का शब्द और शताब्दी से समन्वय आवश्यक है। केवल मंचीय आयोजनों से व्याखानों का कृत्रिम श्राद्ध करने के बजाए बेहतर होगा, कि महाविद्यालयों, साहित्यिक-संस्थानों और पाठकों के बीच उनका काव्य-पाठ किया या कराया जाए। स्वयं मुक्तिबोध का पाठ भी हो सकता था और सुनवाया जा सकता था, यदि उस समय कैसेट, सीडी, डीवीडी आदि का प्रचलन हो गया होता। अंग्रेजी साहित्य में एलियट की आवाज में रिकोर्डेड होने से उनके काव्य और उनकी ध्वनियुक्त आवाज की गूँज का समन्वय कविता की लय का संगीतात्मक आनंद देती है। खैर, मुक्तिबोध की रचनाओं का पाठ स्वयं छात्राएँ, छात्र, प्राध्यापक और अन्य रचनाकार या पाठक भी कर सकते हैं। इससे केवल उन्हें 'अँधेरे में' और 'ब्रह्मराक्षस' के कवि तक सीमित न करके उनके सम्पूर्ण रचना-कर्म से समकालीन साहित्य-संवेदी पीढ़ी को मुक्तिबोध को पढ़ने, जानने, समझने के लिए प्रेरित किया जा सकता है। मुक्तिबोध 13 नवम्बर 1917 को जन्मे थे, अतः 13 नवम्बर 2017 से 2018 तक जो भी हो, वह मुक्तिबोध की काव्य-स्थापना का वर्ष बने। मुक्तिबोध ने अपने संघर्ष से, अपने शब्द के सामर्थ्य से उस समय को जिस प्रकार जिया और जीता जो उन पर बीमारी बनकर हावी हो रहा था, उसको उनके रचना कर्म में भी देखना होगा।

दूसरा प्रश्न है मुक्तिबोध और फैण्टेसी को लेकर अंग्रजी कवि कॉलरिज ने लोटस ईटर, एनशंट मेरिनर और कुबला खान जैसी रचनाओं में जो स्वपनलीला रची, जो अति-कल्पना का विधान खड़ा किया, वह अतिकल्पना ही तो फैण्टेसी हैं। वैसे तो दुनिया के हर साहित्य में फैण्टेसी है और बाल साहित्य में तो बहुत अधिक। क्या गुलिवर्स ट्रेवल्ज में स्विफ्ट और एनिमल फार्म में ऑखेल ने फैण्टेसी का इस्तेमाल व्यंग्य के साथ नहीं किया हैं? जयशंकर प्रसाद के प्रबंध-काव्य 'कामयानी' को लेकर जब मुक्तिबोध ने सर्वप्रथम उसे फैण्टेसी करार देकर फैण्टेसी के प्रमाण दिए, तो प्रसाद के साहित्य को लेकर और विशेषकर 'कामयानी' को लेकर फैण्टेसी-बहस छिड़ी। रामचंद्र शुक्ल ने तो 'कामायनी को 'रामचरितमानस' की तरह महाकाव्य की संज्ञा दी ही नहीं थी, लेकिन मुक्तिबोध से रामस्वरूप चतुर्वेदी तक, प्रगतिशीलों से लेकर समकालीनों और कलावादियों तक, फैण्टेसी-चर्चा काफी हुई। मुक्तिबोध स्वयं फैण्टेसी के कवि नहीं थे, मगर उनके फैण्टेसी-विचार ने उन्हें भी फैण्टेसी-पुरुष बना दिया।

फैण्टेसी को कल्पना या अतिकल्पना, स्वप्न लीला या अययार्थ के रूप में देखा जाए तो हमारा पौराणिक साहित्य जो मिथकों में कथा-कल्पना करना है, वह एक प्रकार से फैण्टेसी ही है। यह भी बहस का विषय है, कि क्या वाल्मीकि हो या वेदव्यास, उनकी रचनाएँ जो बहुत कुछ यथार्थ की तरह जीवन भूमि रचती है, वे जीवन काव्य हैं, इसलिए शायद वे फैण्टेसी नहीं माने जाते। मिथक-फैण्टेसी हो नहीं सकते ? क्योंकि वे लोक जीवन में प्रचलित लोक-आस्थाओं से रचे गए।

मुक्तिबोध ने 'कामायनी' को उस प्रकार का कथा-काव्य नहीं माना है, जैसे मैथिलीशरण गुप्त का साकेत एक कथा-काव्य है। इसका तात्पर्य क्या यह नहीं कि कथा-काव्य होने से कोई भी रचना फैण्टेसी-मुक्त हो सकती है? काव्य में कथा कहना मनुष्य-सम्बद्ध भी है, जीवन और प्रकृति-सम्बद्ध भी। क्या ऐसा काव्य, केवल यथार्थ-काव्य ही हो सकता है, क्या मनुष्य में मनुष्य का, जीवन में जीवन का, प्रकृति में प्रकृति का अमूर्त्तन नहीं हो सकता? अमूर्त्तन हो जाना भी एक प्रकार की अति-कल्पना ही है जिस सुर-रियलिस्ट रचनाकारों ने भी आजमाया और जादुई यथार्थ के नाम से मार्क्वेज से लेकर हिन्दी में विनोदकुमार शुक्ल ने भी आजमाया? यदि जादुई-यथार्थ कोई आलोचना-विचार है तो फिर ऐसा जादू तो हमारे महाकाव्यों में, हमारी रोमाण्टिक कविताओं में भी रचा गया है। अंग्रेजी में रोमाण्टिक काव्य हो या ग्रीक महाकाव्य इलियड-ओडेसी हो, वे भी तो अंततः किसी जादू की रोमांचक रचना है।

अब प्रश्न यह है कि मुक्तिबोध द्वारा 'कामायनी' को फैण्टेसी-कहना आरोप है या काव्य गुण? स्वयं मुक्तिबोध के कथनों से स्पष्ट है कि मुक्तिबोध फैण्टेसी को काव्य-गुण नहीं मानते बल्कि उसे वे शायद यथार्थ की हानि मानते हैं? जिसमें जीवन अपने मनुष्यपन में प्रकट न होकर एक कल्पनात्मक छवि में रचा जाता है। 'कामायनी' में पात्र हैं, मनु है, श्रद्धा है, इड़ा है। सारस्वत प्रदेश है और श्रद्धा के समक्ष इड़ा का तर्क-जाल है, जिसे प्रसाद स्वयं एक प्रकार से श्रद्धा और बुद्धि के बीच का द्वंद्व बनाते हैं। श्रद्धा यदि फैण्टेसी है तो इड़ा भी बुद्धि के रूप में तो फैण्टेसी ही है और मनु यदि मन का प्रतिनिधि है तो मन या मनु भी फैण्टेसी हैं। मगर इस फैण्टेसी में एक सम्पूर्ण कथा तो है। 'कामायनी' को आनंदवाद, शैव-दर्शन और पलायन-वाद की रचना भी कहा गया, यदि यह सब वाद मनुष्य-संवेदी या मनुष्य-वृत्ति के परिचायक हैं, तो जहाँ मनुष्य है, वहाँ कथा है, फिर वह काव्य-कथा हो, या गद्य-कथा। इसलिए सर्वांग और सम्पूर्ण रूप से 'कामायनी' को उसके मिथकीय-आभास के कारण केवल फैण्टेसी कह देना कितना तर्क पूर्ण है, इस पर गंभीर विचार की आवश्यकता इसलिए है कि मुक्तिबोध ने फैण्टेसी का फतवा नहीं दिया है, बल्कि 'कामायनी' के रोमेण्टिक-स्वभाव को लेकर उसमें निहित अतिकल्पना को एक विचार की तरह व्यक्त किया है।

'कामायनी' को लेकर मुक्तिबोध ने कुछ विचार अपनी पुस्तक 'कामायनी : एक पुनर्विचार' में प्रस्तुत किये हैं। उनके संदर्भ भी देखना आवश्यक है। 'कामायनी' एकल चरित्र काव्य किसी राम, कृष्ण जैसे अवतारों की तरह नहीं है, बल्कि प्रसाद ने मनोवैज्ञानिक रूप से अदेह मनोविकारों को सदेह चरित्र बनाकर भाववाचक संज्ञाओं में व्यक्ति-वाचक चरित्र रचने का ऐसा अप्रतिम प्रयोग किया है कि अदेह या विदेह मनोभाव भी संदेह मनुष्य बन गए हैं जो मनु, श्रद्धा, इड़ा, कुमार आदि के रूप में रचे गए हैं। कोई भी पाठक मुक्तिबोध के पहले उन्हें फैण्टेसी में नहीं देखता था या पढ़ता था, मुक्तिबोध ने प्रचलित महाकाव्यात्मक प्रादर्शों का अतिक्रमण कर फैण्टेसी को एक प्रकार से आलोचना-विचार बना दिया है।

'कामायनी-एक पुनर्विचार' में मुक्तिबोध कहते हैं 'कामायनी का जो विश्लेषण मैंने किया है,

वह एक ओर प्रसादजी का युग तो दूसरी उनका व्यक्तित्व-- इन दोनों की परस्पर प्रतिक्रियाओं के संघनित योग को ध्यान में रखकर ही। 'कामायनी' उस अर्थ में कथा-काव्य नहीं है कि जिस अर्थ में 'साकेत' है। 'कामायनी' की कथा केवल एक फैण्टेसी है। जिस प्रकार एक फैण्टेसी में मन की निगूढ़ वृत्तियों का प्रक्षेप होता है, उसी प्रकार कामायनी में भी हुआ है।' मुक्तिबोध यह भी मानते हैं कि कलाकृति स्वानुभूत जीवन की कल्पना द्वारा पुनर्रचना है। मुक्तिबोध एक प्रकार से कामायनी को भाववादी रोमेण्टिक शिल्प की रचना मानते हुए फैण्टेसी के अंतर्गत कवि-कल्पना को अधिक स्वतंत्र होकर प्रतीक-चित्रों द्वारा स्वानुभूत विशेषताओं की प्रस्तुति मानते हैं। वे यह भी मानते हैं कि फैण्टेसी के अंतर्गत कल्पना का मूल कार्य, मन के निगूढ़ तत्वों को प्रोद्भासित करते हुए, विभिन्न रंगों में उन्हें अपे समस्त सौंदर्य के साथ उद्घाटित करना रहता है।

अब प्रश्न यह है कि मुक्तिबोध मन के निगूढ़ तत्त्वों, स्वानुभूत विशेषताओं और सौंदर्य को प्रसाद के प्रतीक चित्रों की रोमेण्टिक कल्पना में देखते हैं तो क्या मन मानवीय नहीं है, क्या स्वानुभूत विशेषताएँ मनुष्यगत नहीं है और क्या सौंदर्य मनुष्यदृष्टि नहीं है? यदि सब मिलकर सिर्फ कल्पना या अतिकल्पना हैं, फैण्टेसी हैं, स्वप्न हैं, तो कविता का जीवन यथार्थ के साथ स्वप्न हो जाना एक कवि के शिल्प की उत्कृष्टता नहीं है? क्या यथार्थ केवल रोटी को रोटी, कपड़ा को कपड़ा या मकान को मकान कहने से ही या दुख को दुख और सुख को सुख कह देने से ही रचना में घटित होता है। कवि हो या कथाकार वह तो यथार्थ में संवेदन का सौंदर्य रचता है। यदि ऐसा न होता तो शेक्सपीयर की त्रासदियाँ संवेदन और सौंदर्य की अनुपम कृतियाँ नहीं बनतीं और 'सरोज-स्मृति' का दुख-कातर कवि की मेघा में 'राम की शक्ति-पूजा' का अवतरण नहीं होता।

मुक्तिबोध एक फैण्टेसी विचार गहनचर्चा एवं सहमति-असहमति की बहस के लिए आवश्यक है। मुक्तिबोध ने फैण्टेसी शब्द क्या पहली बार हिन्दी आलोचना में एक अविष्कारक हस्तक्षेप किया है, जिसे कामायनी के अलावा स्वयं मुक्तिबोध की रचनाओं, निबंधों और विचारों के माध्यम से जानना, पहचानना बहुत ज़रूरी है।

एस.एच. 19, ब्लॉक-8,
सहयाद्रि परिसर, भदभदा रोड,
भोपाल (म.प्र.)

ओड़िया से हिन्दी अनुवाद : समस्याएँ और सम्भावनाएँ

– अजय कुमार पटनायक

स्रोत भाषा (S.L.) के पाठ को लक्ष्यभाषा (T.L.) में अन्तरित करने की प्रक्रिया को अनुवाद कहा गया है। लेकिन इस कार्य में दोनों पाठों के शब्दों से अधिक अर्थवन्ता को समान रखने का प्रयास किया जाता है। ध्यान रहे, दोनों पाठों का तानाबाना शब्द-व्यवस्था में होता है और एक ही सामाजिक-सांस्कृतिक तत्त्व को अभिव्यक्त करने के लिए दो भिन्न शब्द-व्यवस्थाएँ पर्याप्त रूप से एक सी नहीं होती। हर भाषा के पारिपार्श्विक परिवेश, ध्वनि, शब्द, रूप, वाक्य, अर्थ, संस्कृति, लोक-तत्त्व आदि दूसरी भाषा-संरचना से भिन्न हैं। अतः सदैव स्रोत-भाषा से लक्ष्य-भाषा की हू-बहू अभिव्यक्ति पाना मुश्किल है। ऐसे में निकटतम सादृश्य (Nearest equivalence) से काम लिया जाता है।

सुप्रसिद्ध भाषा-विज्ञानी डॉ. भोलानाथ तिवारी अपने 'अनुवाद-विज्ञान' में इसी बात का ज़िक्र करते हैं– ''भाषा ध्वन्यात्मक प्रतीकों की व्यवस्था है और अनुवाद है, इन्हीं का प्रतिष्ठापन। अर्थात् एक भाषा के प्रतीकों के स्थान पर दूसरी भाषा के निकटतम समतुल्य और सहज प्रति-प्रतीकन या यथासाध्य समानक प्रति-प्रतीकन।''

उल्लेखनीय है कि एक भाषा की समतुल्यता दूसरी भाषा में खोजना कठिन अवश्य है, पर असम्भव नहीं। क्योंकि अनुवाद मात्र एक शाब्दिक प्रक्रिया नहीं है और अनुवादक कोई सन्देशवाहक या पोस्टमैन नहीं है, बल्कि वह एक अनुस्रष्टा या अनुसर्जक भी है। एक भाषा के अनुभव को हृदयंगम करके दूसरी भाषा में अनुरूप अनुभव पैदा करना ही अनुवाद का काम है।

विश्वभर में भाषा के क्षेत्र में जितने सन्निध्य और संसर्ग का वातावरण बना है, साहित्य के क्षेत्र में उतनी सहृदयता सम्भव नहीं हुई है। दरअसल, क्रमशः भौगोलिक वाधा-बन्धन की दूरियाँ सिमटने के साथ-साथ साहित्य के जरिए दूसरे को जानने और अपने को जताने की अभिलाषा से अनुवाद के लिए क्षेत्र प्रस्तुत हुआ। प्रोफेसर चितरंजन दास के शब्दो में ''यथार्थ श्रद्धा और आत्मीयता के साथ अन्य संस्कृति अथवा अन्य किसी साहित्य को पहचानने पर ही अपनी संस्कृति और साहित्य को अधिक निविड़ता और सम्पूर्णता के साथ पहचानने का अवसर मिलता है। हमारी संस्कृति के क्षेत्र में एक बहुत बड़ा आविष्कार है और इस आविष्कार ने ही विश्व-साहित्य के क्षेत्र में अनुवाद के लिए एक प्रशस्ततर क्षेत्र उपलब्ध करा दिया है।'' (–'अनुवाद ओ ओड़िया साहित्य' निबन्ध से)

यद्यपि बहु पूरा काल से विश्व-साहित्य में अनुवाद का स्रोत प्रवहमान है, फिर भी बीच-बीच में

अनुवाद-विरोधी श्लोगन रूपी सड़ाँध स्रोत को गँदला करते रहे हैं। वोल्टायर, ग्राण्ट सावरमैन, उड्रो विलसन आदि के नाम ऐसे अनुवाद विरोधियों में आते हैं। इसकी वजह के बारे में समीक्षकों का कहना है कि अनुवादक कभी अनुसृजक बनकर मूल लेखकों से आगे निकल न जायँ, इसी आशंका से उन्हें रोकने के लिए अतीत में ऐसी आवाजें उठने लगी थीं। लेकिन इससे अनुवाद की गति व्याहत नहीं हुई, बल्कि पहले से अधिक तीव्र होती चली गई।

जाहिर है कि आदान-प्रदान की यह प्रक्रिया बहुत प्राचीन है। आधुनिक युग में इसमें और भी तेजी आई। इसलिए कि पूरे विश्व-साहित्य के लिए यह अनिवार्य बन गया है। विद्वानों ने देखा और परखा कि अनुवाद के बिना साहित्य अन्तः सारशूल्य हो जाता है। इस दृष्टि से पाश्चात्य साहित्य में आदान-प्रदान का क्षेत्र जितना व्यापक और समृद्ध है, भारतीय साहित्य उससे कहीं पीछे है। फिर भी अंग्रेजी के जरिए कतिपय भारतीय ग्रंथ पश्चिमी जगत में पहुँच गये हैं और उसी प्रकार अंग्रेजी माध्यम से ही कई विदेशी ग्रंथ भारतीय भाषाओं में उपलब्ध हैं।

जहाँ तक भारतीय साहित्य के अंतर्गत आदान-प्रदान का प्रश्न है, वह उतना निराशाजनक नहीं है। लेकिन ओड़िआ से हिन्दी अनुवाद के बारे में विचार करने पर शर्मिन्दगी महसूस होती है। हालाँकि हिन्दी से ओड़िआ अनुवाद की बात फिर भी सहन हो सकती है, जिसकी अपेक्षाकृत पुरानी परम्परा भी है। लेकिन ओड़िआ से हिन्दी अनुवाद की अब लम्बी दूरी तय करनी है।

ओड़िआ एक प्राचीन तथा समृद्ध भाषा है। पूर्वांचलीय भारतीय आर्य भाषाओं-बंगला, असमिया, मणिपुरी आदि की भाँति इसमें पूर्वी इलाके की तमाम विशेषताओं के साथ-साथ कुछ अपनी निजी विशेषताएँ भी हैं। 'जगन्नाथ संस्कृति' के नाम से यहाँ की जांगलिक संस्कृतियों ने ओड़िआ भाषा तथा साहित्य को प्रभावित किया है। ओड़िआ साहित्य में आज भी परम्परा की सारी विशेषताएँ किसी-न-किसी रूप में ध्वनित होती रहती हैं। अतः हिन्दी में अनूदित होकर ये सरल भावनाएँ देशभर में फैलनी चाहिए ताकि देश के मुख्य स्रोत में शामिल होकर भारत के गौरव में शरीक हो सकें। इस प्रकार तमाम प्रादेशिक विशेषताओं को राष्ट्रभाषा में अभिव्यक्ति मिलने पर हमारी भारतीय संस्कृति समृद्ध होगी और समृद्ध होगा इसका साहित्य भी। भारतीय भावात्मक एकता का जहाँ तक प्रश्न है, ओड़िआ जन जीवन के बारे में परिचित होने पर सर्व-भारतीय स्तर पर उसे जन-मानस के हृदय में स्थान मिलेगा। वरना मुख्य स्रोत से कटकर विच्छिन्नता बोध से ग्रस्त होने का खतरा है। प्रादेशिक संकीर्णता से ऊपर उठने पर न केवल भारतीय साहित्य समृद्ध होगा, बल्कि ओड़िआ साहित्य को भी एक व्यापक क्षेत्र मिलेगा तथा भारतीयता की पहचान लेकर यह भारत के बाहर अपना स्थान बना लेगा।

ओड़िआ से हिन्दी अनुवाद की यही प्रासंगिकता है। दोनों की भाषाएँ संस्कृत से सीधा सम्बन्ध रखती हैं। कम से कम 60 प्रतिशत संस्कृत के शब्द ओड़िआ में हैं। पालि, प्राकृत, अपभ्रंश से होकर संस्कृत के शब्द जब हिन्दी में आते हैं, तो वे या तो यथावत् ओड़िआ में प्रयुक्त होते हैं अथवा हिन्दी की महाप्राण ध्वनियों का ओड़िआ में अल्पप्राण हो जाता है। उदाहरणार्थ, हस्त/हत्थ/हत्थ/हाथ (हिन्दी) = हात (ओड़िआ)।

वर्ण-क्रम दोनों का एक जैसा है, जैसे उर्दू को छोड़कर अन्य सभी भारतीय भाषाओं में है—अ, आ से लेकर ह, क्ष तक। लिपि भी हिन्दी की भाँति ओड़िआ की भी देवनागरी है। ताड़ की पत्तियों में

लोहे की लेखनी से लिखने पर शिरोरेखा देने से पत्तियाँ फट जाती थीं, इसलिए ओड़िआ के लिपिकारों ने शिरोरेखा दक्षिण की भाषाओं की तरह गोलाकृति बना दी। वरना शेष सभी यथावत् है। ध्वनि का जहाँ तक प्रश्न है, उसमें भी हमारी कोई समस्या नहीं है। हिन्दी की हलन्तवाची प्रकृति को छोड़ देने पर और कोई पार्थक्य नहीं है। बस, एक 'क' ध्वनि हमारे यहाँ अधिक है। असम में जैसे 'स' का 'ह' उच्चारण होता है, ओड़िआ में वैसी कोई समस्या नहीं है। शब्द संयोजना की दृष्टि से देखा जाय तो संस्कृति के विभिन्न-प्रत्यय, उपसर्ग आदि का प्रयोग ओड़िआ में भी होता है। उर्दू और हिन्दी के कई ऐसे शब्द हैं, जो ओड़िआ भाषा में भी घुलमिल गये हैं। इसका कोर्ट और कचहरही की भाषा होने के कारण उर्दू और हिन्दी के कई शब्द मध्य युग से ही हमारे यहाँ मौजूद हैं। फिर व्यापार के सन्दर्भ में बाहरी इलाकों से सम्पर्क होने पर शब्दों का आयात आसान हो जाता है। इसके अतिरिक्त धार्मिक दृष्टि से जगन्नाथपुरी में सदा आने वालों में हिन्दी भाषी यात्रियों की संख्या सबसे अधिक है। अतः भाषागत प्रभाव को भी अस्वीकारा नहीं जायगा।

अनुवाद कार्य में सावधानी यह बरतनी चाहिए कि विषय ऐसा हो जो किसी भी प्रकार की आँचलिकता या किसी भी प्रकार की संकीर्णता को बढ़ावा न दे। अभिव्यक्ति का जहाँ तक प्रश्न है, भाषागत अज्ञानता या अल्पज्ञानता इसमें बाधक है। आक्षरिक अनुवाद से भी कभी कभी खतरे पैदा हो जाते हैं। अतः अनुवादक को द्वैभाषिक होने के साथ-साथ द्वैसांस्कृतिक भी होना चाहिए। ध्यान रहे कि मूल विषय की अभिव्यक्ति की शैली अनुवाद में भी यथा सम्भव सुरक्षित रहे। आवश्यकतानुसार अनुवादक को अनुसृजक की भूमिका लेकर अनुरूप अभिव्यक्ति का निर्माण करना चाहिए। वरन एक गलत अनुवाद के स्रोतभाषा के साहित्य की हानि ही नहीं होगी, बल्कि अर्थ का अनर्थ होने पर सांस्कृतिक वैमनस्य भी पैदा हो सकता है।

ओड़िआ-हिन्दी अनुवाद के उदाहरण स्वरूप यहाँ डॉ. सीताकान्त महापात्र की ओड़िआ कविता 'लक्ष्मण' का मूल-पाठ पहले प्रस्तुत है—

''आजीबन तमे खालि नत मुख भूमिकु देखिल
ओ देखिल ताकु छुइंथिबा लताटिर कअँल पतर
परि पाद दिओटिकु
आकाशकु चाहिंलनि, देखिलनि सौर कर उद्‌भासित
हर रंगी आकाशर विद्युत महिमा
जाणिलनि पादहिं लतार चेर
बन भूमि उष्ण-आर्द्र स्नेह ओ सराग नेइ केड़े उजागर
लता माडिजाए, लता लम्बि जाए
योजन योजन भूइं
डेइं डेइं आलुअ, छाइ, अन्धार
शोक ओ सन्ताप येते येते छंटि
घृधा, तृष्णा रोग मृत्यु दुस्तर ए काल्प पाराबार
जाणि पारिलनि हा पाँच मन

ओ पचिश प्रकृतिंक कुटिल बेभार''

इसका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार हो सकता है–

''आजीवन तुम सिर्फ नतमुख धरती को टाकते रहे
और देखे उसे छूती लता के कोमल पत्तों- से
दोनों चरण
न आकाश और न कभी उद्भासित सूर्यालोक देखा
हरे आकाश की उजी महिमा
जानी नहीं पैर ही लता की जड़
वन भूमि उष्ण-आर्द्र नेह और ममता लिए सजग, चंचल
लता फैलती है, लता बढ़ती है
जहाँ योजन योजना तक
पार कर उजाले को, सायान्धकार को
शोक व सन्ताप सारे, सारी वेदनाएँ
क्षुधा-तृष्णा रोग-मृत्यु दुरूह ये काल-पारावार
काश! तुम्हें पता होता पाँच मन
और पच्चीस प्रकृति का कुटिल व्यापार''

ओड़िआ गद्य के अनुवाद के उदाहरण स्वरूप मनोरमा महापात्र की ओड़िआ कहानी 'विप्रलम्भ शृंगार' का एक मूल गद्यांश है–

''मुण्ड उपरकु पणत यणि बिछणास आपणार फुल परि नरम देहटाकु शंकटर बाहु बन्धनरू मुक्त करि धीरे धीरे उठि आसुथिला पद्मावती, सकाल हेबार अनेक आगरु। बाप धरे रात्रि यापन लज्जाकर। सरका पद्मावतीर मुंह उपरू अपसरि याउछि गत रात्रिर भयान्र्त छाया... खालि सरमर टिकि टिकि ढेउ लहड़ि भांगुधि। कम्र लज्जार लोहित आबरण नूआ रूप देइछि पद्माकु। गोटिए राति बदलाई देइछि तनु लता कु। मानस राज्य रे पुरुषर पदचारण।''

इसका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार किया गया है–

''सर पर आँचल दिये अपने फूल से नरम तन-वदन को शंकर की बाहों से मुक्त कर धीरे धीरे बिस्तर छोड़ रही थी पद्मावती। भोर होने में फिर भी थोड़ी देर बाकी है। मायके में पति के साथ रात्रि यापन लज्जाजनक है। सीधी सादी पद्मावती के चेहरे से कल रात की भयंकरता उतर चुकी है। सिर्फ शर्म की इनी-गिनी छोटी-छोटी लहरें खिल रही थीं। पद्मा के चंयई रंग पर शर्म की हल्की-सी लाली से एक नई चमक आ गई है चेहरे पर। एक रात ने उसे बदल डाला। मानस के इलाके में पुरुष का पदचारण।''

इन दोनों उदाहरणों से ओड़िआ-हिन्दी अनुवाद की प्रकृति, शब्दावली और प्रक्रिया के संकेत मिलते हैं।

ओड़िआ के हिन्दी अनुवाद की पहल की अगर बात करें, तो मेरे विचार से 'मोगल तामसा' नामक एक लोक-नाटक को यह श्रेय मिलना चाहिए। तत्कालीन कोर्ट कचहरी की अरबी-फारसी

मिश्रित हिन्दी से प्रभावित होकर अपनी नौटंकियों में मोगल-तामसा (तमाशा) के लेखकों ने हास्य-व्यंग्य के अनुकूल हिन्दी का प्रयोग किया, जिसे ओड़िआ से अनुवाद करके बनाया गया होगा। उसमें न तो शुद्धता थी और न ही पूर्णता। एक-एक प्रसंग-खण्ड को लेकर ऐसी पंक्तियाँ सुनाई गई हैं। आगे चलकर ओड़िआ कवयित्री कुन्तला कुमारी सावत ने अपनी ही कई कविताओं का स्वयं हिन्दी भाषान्तरण किया था, जिन्हें उनका हिन्दी काव्य 'वरमाला' के संपादन के समय मैंने लक्ष्य किया है। पण्डित बनमाली मिश्र की कतिपय रचनाएँ राष्ट्रभाषा समवाय प्रेस से प्रकाशित हुईं। भुवनवाणी ट्रस्ट, लखनऊ द्वारा भारतीय राम-काव्यों के अनुवाद की शृंखला सुरेशचन्द्र नन्द ने उपेन्द्र भंज कृत 'वैदेहीश विलास' का हिन्दी गद्यानुवाद किया। आगे अर्जुन शतपथी, श्रीनिवास उद्गाता, बनमाली दास, तारिणीचरण दास, शंकरलाल पुरोहित, प्रभात त्रिपाठी, योगेश्वर त्रिपाठी 'योगी' जैसे अभिज्ञ अनुवादक इस क्षेत्र में आये और ओड़िआ से हिन्दी अनुवाद-क्षेत्र को व्यापकता प्रदान की। फिर मेरे जैसे अदने से अनुवादक की भी इस क्षेत्र में आने की हिम्मत हुई। साथ ही राजेन्द्र प्रसाद मिश्र, भगवान त्रिपाठी, मंजुशर्मा महापात्र, महेन्द्र शर्मा, सविता मिश्र, श्रीवत्सकर शर्मा, योगेश पाणि, सुजाता शिवेन, कुमार हसन, मधुसूदन साहा, राधाकान्त मिश्र, हरिश्चन्द्र मिश्र, विजय कुमार महान्ति, रवीन्द्रनाथ मिश्र, एनी राय जैसे हिन्दी अनुवादक इस क्षेत्र में कार्यरत हैं।

ओड़िआ से हिन्दी अनुवाद के क्षेत्र में आई समस्याओं को कहाँ तक गिनाएँ! कभी किसी ने इन पर गम्भीरता से सोचा ही नहीं। किसी संस्था या सरकार ने इसे अच्छी नजर से देखा ही नहीं। प्रायः तीस-पैंतीस वर्ष पहले ओड़िशा साहित्य अकादेमी की कार्यकारिणी बैठक में मेरे एक पत्र पर निर्णय लिया गया कि ''अनुवाद एक मौलिक कला नहीं है। अतः इस पर किसी पुरस्कार का प्रावधान नहीं हो सकता।''

उस समय अनुवाद के लिए ओड़िशा में न तो कोई प्रोत्साहन था और न ही कोई मार्गदर्शन। इस दिशा में कोई पाठ्यक्रम या प्रशिक्षण कार्यक्रम भी नहीं बन पाया था। अब स्थिति में किंचित परिवर्तन हुआ है। ओड़िआ साहित्य अकादेमी में अनुवाद पुरस्कार का प्रावधान रखा गया और कालेजों के पाठ्यक्रम में प्रायोगिक हिन्दी के अन्तर्गत अनुवाद सिद्धान्त को जगह मिली। यह भी केन्द्र साहित्य अकादेमी और यू.जी.सी. के निर्देशन का परिणाम है। खैर, केन्द्र साहित्य अकादेमी के साथ-साथ नेशनल बुक ट्रस्ट, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, भारतीय भाषा परिषद, भारतीय ज्ञान पीठ जैसी कतिपय संस्थाएँ इस दिशा में प्रोत्साहन दे रही हैं। लेकिन उनकी भी अपनी सीमाएँ हैं। ग्रंथ तथा अनुवादक-चयन को लेकर उनके अपने मापदण्ड हैं। पुरस्कृत कृतियों को ही अनुवाद योग्य समझा जाता है। किसी कारण से पुरस्कृत न होने वाले उत्कृष्ट ओड़िआ ग्रंथ भी अनुवाद के परिसर में नहीं आते। अर्थ, सत्ता, पद-पदवी एवं प्रकाशन संस्था पर अधिकार रखने वाले साहित्यकार की निकृष्ट रचनाएँ भी अनुवाद-योजना में शामिल कर दी जाती हैं। निर्दिष्ट ग्रंथ के प्रति अनुवादक के आग्रह, निष्ठा या अभिज्ञता के अभाव से अनुवाद इतना अरुचि पैदा करता है कि पाठक अनुवाद-विधा के प्रति विरक्त होने लगता है। फिर बरादी अनुवादों में तो समय की पाबंदी रहती है और उसका गुणात्मक मूल्य पर प्रश्न उठाने वाला कोई नहीं होता।

प्रत्येक भाषा की एक निर्दिष्ट जलवायु है, जो ध्वनिगत, शब्दगत अथवा वाक्यगत् हो सकती

है। जैसे, हिन्दी में ओड़िआ के ‘ळ’ का उच्चारण ‘ल’ तथा अन्तस्थ ‘य’ (ज) का उच्चारण ‘य’ होता है। ओड़िआ के ‘ब’ का उच्चारण भी हिन्दी की अधिकांश शब्दावलियों में ‘व’ होता है। हिन्दी में श, स, ष के उच्चारण भिन्न हैं जबकि ओड़िआ में तीनों एक जैसे उच्चरित होते हैं। ओड़िआ में लिंग चार हैं, पर हिन्दी में सिर्फ दो (पुंलिंग और स्त्री लिंग) आमेरिका, कश्मिर, पाहाड़, जाहाज जैसे ओड़िआ शब्द हिन्दी में क्रमशः अमरीकी, कश्मीर, पहाड़, जहाज उच्चरित होते हैं और लिखे भी जाते हैं उस रूप में, शब्द-संरचना में भी सम्यक् परिवर्तन होता है, जो व्याकरण की दृष्टि से भले ही गलत न हो पर प्रयोग की दृष्टि से ठीक नहीं लगता। जैसे ओड़िआ में ‘यिबा-आसिबा’ (जाना-आना) को हिन्दी में ‘आना-जाना’ के रूप में प्रयोग किया जाता है। ओड़िआ का ‘पिला’ (बच्चा) हिन्दी में ‘पिल्ला’ होकर सिर्फ कुत्ते के बच्चों के लिए प्रयुक्त होता है। ओड़िआ में जहाँ छोटों के लिए ‘शरधा’ और ‘आदर’ शब्दों का प्रयोग होता है, हिन्दी में उसके विपरीत सिर्फ बड़ों के लिए या सम्मानास्पदों के लिए श्रद्धा, आदर, श्रद्धेय, आदरणीय आदि का प्रयोग होता है। ओड़िआ शब्द ‘गालि’ के लिए हिन्दी में तीन अलग-अलग शब्द हैं – गाली, डाँट, उलाहना। इनके प्रयोग भी अलग-अलग हैं। इस प्रकार के अन्य अनेक उदाहरण हैं। वाक्य-संरचना का जहाँ तक प्रश्न है, ‘आपणंक बयस केते?’, ‘आसिबा हुअन्तु’, ‘आम गरीब कुडिआरे भोजन करन्तु’ जैसे वाक्यों का हिन्दी में क्रमशः ‘आपकी उम्र क्या है?’, ‘आइये पधारिये’ अथवा ‘तशरीफ लाइये’ एवं ‘हमारे गरीब खाने में जूठन गिराइये’ जैसा होगा। ओड़िआ में हिन्दी की भाँति वाक्य-संरचना में कर्त्ता, कर्म और क्रिया की शृंखला होती है। लेकिन ओड़िआ में हिन्दी की भाँति क्रिया के साथ कर्त्ता और कर्म के लिंग-वचन का कोई सम्बन्ध नहीं है। हिन्दी में लिंग-वचन उसकी क्रिया में ध्वनित होते हैं और ‘ने’ प्रयोग में क्रिया के लिंग-वचन कर्म के अनुसार होते हैं। फिर, हिन्दी में आकारान्त पुंलिग के साथ विभक्ति-प्रत्यय लगने से ‘आ’ का ‘ए’ हो जाता है, जो ओड़िआ में नहीं है। मुहावरे और कहावतों के अनुवादक में भी कदम फूँक-फूँक कर रखना होगा। उनमें अर्थ का नहीं, भाव का महत्त्व है। अतः अनुरूप भाव सम्पन्न मुहावरा ही चुना होगा। जैसे, पद्मयेउँठि, भ्रमर सेइठि’, ‘घर ढिंकि कुम्भीर’, ‘जोर यार मुलक तार’ ‘के लिए हिन्दी में क्रमशः ‘जहाँ गुड़ है, वहाँ चींटियाँ होंगी’, ‘घर का भेदी लंका ढाये’, ‘जिसकी लाठी उसकी भैंस’ जैसे मुहावरों का प्रयोग होगा। अतः अनुवाद के लिए केवल भाषा का ज्ञान पर्याप्त नहीं, बल्कि भाषाओं के ध्वनि, शब्द और वाक्य सम्बन्धी प्रायोगिक ज्ञान का भी होना परम आवश्यक है।

भाषा के साथ-साथ स्रोत और लक्ष्य भाषा की संस्कृति का ज्ञान भी अनुवाद के लिए अनिवार्य है। वस्तुतः अनुवाद द्वैभाषिक ही नहीं, द्वैसांस्कृतिक भी है। लेकिन हाँ, दोनों भाषा और संस्कृतियों का ज्ञान भी पर्याप्त नहीं है, दोनों भाषा और संस्कृतियों से लगाव भी होना चाहिए। प्रो. चन्द्रशेखर रथ ने इसे यशोदा का दायित्त्व बताया है। उन्हीं के शब्दों में, अगर स्रोतभाषा और लक्ष्यभाषा परस्पर सपत्नी हों तो अनुवादक को दक्षिण-नायक की भूमिका में अवत्तीर्ण होना पड़ेगा। मूल कृति के प्रति विश्वस्त होने के साथ-साथ अनूदित कृति के प्रति अनुरक्त होकर उसे आगे बढ़ना पड़ता है। अनुवादक जब मूल कृति के अनुभव के साथ घुलमिल जाता है, तब वह स्रष्टा के सौन्दर्य से विमण्डित हो जाता है। ऐसी अनूदित कृतियाँ एक प्रकार से अभिनव कृति बनकर उभरते लगती हैं। कालिदास की ‘रघुवंशम्’, तुलसी दास की ‘रामचरितमानस’, बलराम दास की ‘दाण्डि रामायण’,

जगन्नाथ दास की 'भागवत', फकीरमोहन की 'पेटेंट मेडिसिन', लक्ष्मीकान्त महापात्र की 'बुढ़ा शंखारि' (बूढ़ा कंगनवाला) ऐसी ही काजलयी कृतियों के उदाहरण हैं। इस सम्बन्ध में गिलबर्ट हाइट की बात याद आती है– ''A bad translation of a good text is a loss, where as a good translation of a bad text is a gain.'' ऐसे में सोच लीजिए अगर दोनों ही 'good' हो जायँ तो फिर क्या कहने!!

ओड़िआ से हिन्दी अनुवाद के क्षेत्र में मुझे लगता है कि इसकी पहली शर्त है विश्वस्तता, जिसका अक्सर अभाव अनुभूत होता है। वैसे आनातोले फ्रांस का एक जुमला बहुत चर्चित है कि ''Translation can either be faithful or beautiful like a wife'' लेकिन मैं इसे नहीं मानता। क्योंकि पश्चिमी देशों में भले ही स्थिति वैसी हो, पर भारतीय परिप्रेक्ष्य में पत्नी की विश्वस्तता में ही उनका सौन्दर्य निहित है।

अनुवाद कर्म में लगाव और विश्वस्तता पैदा करने के लिए कठिन साधना की आवश्यकता है। अर्थ, सत्ता और सम्पर्क के दबाव से अनुवाद करने पर खामियाँ तो रहेंगी ही। साधना का अवसर प्रदान करने हेतु एक अनुवाद अकादेमी/हिन्दी अकादेमी के निर्माण की जरूरत है, जिसके जरिए अभिनव कोश-निर्माण, शब्द-गठन, ग्रंथ चयन आदि के बारे में चर्चा-परिचर्चा हो और अनुवाद-कर्मशालाओं की सहायता से अनुवाद का अभ्यास कराया जाय। अब तक ओड़िआ से हिन्दी में जितने भी अनुवाद हुए हैं, उनमें से लगभग 50 प्रतिशत किसी न किसी दोष से दुष्ट हैं। कोई ओड़िआ शैली की सुरक्षा के बहाने लगभग आक्षरिक अनुवाद करके छोड़ देता है, तो किसी की अल्पज्ञता के कारण अर्थ का अनर्थ होने लगता है। पण्डित प्रदर्शन और कृत्रिम शब्द संयोजन भी अनुदित ग्रंथ की पठनीयता पर प्रश्न चिन्ह लगा देते हैं। अतः मेरा विनम्र सुझाव है कि प्रत्येक अनूदित कृति का पुनरीक्षण या रिव्यू कराया जाय और प्रकाशन से पहले बिना जाँच और सुधार किये ऐसी कृतियों वृहत्तर हिन्दी पाठकों के पास पहुँचने की इजाजत न दी जाय। मेरे विचार से, इस दिशा में विधिवत् प्रशिक्षण, कोश-निर्माण, भाषा-शैलीगत संपादन, मूल्यांकन एवं समीक्षा की नितान्त आवश्यकता है।

इन तमाम कमियों के होते हुए भी ओड़िआ के कई अच्छे ग्रंथों के अच्छे अनुवाद भी हुए हैं और उन्हें देश भर में आदृति भी मिली हुई है। लेकिन फिर भी ढेर सारी उत्कृष्ट ओड़िआ रचनाओं के प्रति अभी तक न्याय नहीं हो पाया है, जो हिन्दी में पहुँचने पर हमारी गौरव-वृद्धि में सहायक होती। कहना अनुचित न होगा कि 'गीतांजलि' का अंग्रेजी अनुवाद न हुआ होता तो शायद रवीन्द्रनाथ विश्वकवि नहीं बन पाते। विद्वानों का तो यहाँ तक कहना है कि जयशंकर प्रसाद का महाकाव्य 'कामायनी' का अंग्रेजी अनुवाद न होने पर ही वह 'नोवेल पुरस्कार' से वंचित रह गया। खैर, भूमण्डलीकरण के आज के दौर में अनुवाद की अनिवार्यता असंदिग्ध है। हमें ओड़िआ साहित्य से आज भी अमित सम्भावनाओं की प्रतीक्षा है।

पूर्व प्रोफेसर (हिन्दी)
तपोवनम्, प्लाट नं.- 1032/2402
प्रगति नगर, यूनिट-8, भुवनेश्वर-751003

साहित्यानुवाद : अनुकृति या अनुसृजन

– छबिल कुमार मेहेर

साहित्यानुवाद

साहित्यिक लेखन एक सृजनात्मक क्रिया है। सृजनात्मक साहित्य के अन्तर्गत कविता, कहानी, उपन्यास आदि साहित्यिक विधाओं को शामिल किया जाता है। सृजनात्मकता के मुख्य आधार तत्त्व हैं– अनुभूति, भाव, कल्पना आदि। साहित्य में (विशेषकर कविता में) प्रयुक्त भाषा बिम्बों, प्रतीकों के कारण लक्षणा और व्यंजना प्रधान होती है, साथ ही उसमें मूल लेखक के देश-काल, संस्कृति, भाषिक सन्दर्भ आदि के तत्त्व भी जुड़े रहते हैं।

सृजनशील लेखक और अनुवादक

सृजनशील लेखक और अनुवादक, दोनों में अन्तर है भी और नहीं भी क्योंकि सृजन के प्रति दोनों के दृष्टिकोण या अप्रोच में कुछ समानताएँ होने के साथ-साथ कुछ असमानताएँ भी हैं। पहले हम सृजनशील लेखक और अनुवादक के बीच क्या समानताएँ हो सकती हैं, उसकी चर्चा करते हैं। इसके लिए हम महान् पाश्चात्य चिन्तक, दार्शनिक, विचारक अरस्तू के चर्चित अनुकरण सिद्धान्त (Theory of Imitation) का सहारा लेंगे। अनुकरण सिद्धान्त के अनुसार कवि या सृजनशील लेखक अपने भाषा चातुर्य से यथार्थ का अनुकरण करता है। उसे संसार से जो अनुभव प्राप्त होता है, उसको अपनी भाषा या चातुर्य के माध्यम से काव्य या कि कला में मूर्त रूप प्रदान करता है, जबकि अनुवादक कवि/लेखक का अनुकरण करता है या यों कहें कि व्यक्त (यथार्थ) संसार की अनुकृत कवि/लेखक का अनुकरण करता है या यों कहें कि व्यक्त (यथार्थ) संसार की अनुकृत अभिव्यक्ति (imitated expression of the world) का अनुकरण करता है। अतः सृजनशील लेखक और अनुवादक, दोनों अनुकरण करते हैं। इस प्रक्रिया में दोनों अनुभव, भाषा और अभिव्यक्ति-कौशल के स्तर पर एक सी रचना-प्रक्रिया से गुज़रते हैं। अब दोनों के बीच स्थित अन्तर पर विचार करते हैं। विषय के प्रतिपादन की दृष्टि से विचार करें तो, सृजनशील लेखक किसी भी वस्तु या विषय के प्रति आकृष्ट होकर उस विषय को भाषा चातुर्य के माध्यम से एक नया रूप देता है, जिसे हम काव्य/साहित्य कहते हैं। इसे दूसरे शब्दों में कहें तो, सृजनशील लेखक मूलतः विषय के चयन-प्रवर्तन-विस्तारण में स्वतन्त्र रहता है।

इसके विपरीत अनुवादक को मूल लेखक के द्वारा चुने गये विषय को ही स्वीकारना पड़ता है। अतः अनुवादक स्वतन्त्र न होकर मूल रचनाकार पर आश्रित रहता है।

साहित्यानुवाद को मौलिक सृजन तथा सृजनशील-अनुवादक को सृजनकर्त्ता की कोटि में रखा जाए या नहीं - यह हमेशा विद्वानों के बीच विवाद का विषय रहा है। इस सम्बन्ध में हरिवंशराय बच्चन के विचार द्रष्टव्य हैं : 'मैं अनुवाद को, यदि मौलिक प्रेरणाओं से एकात्म होकर किया गया हो, मौलिक सृजन से कम महत्त्व नहीं देता।' ज़ाहिर है कि अनुवादक कोई नूतन विषय नहीं रचता अपितु सृजन का पुनः सृजन (recreation) करता है। कुछ विद्वान इसे अनुसृजन (transcreation) की संज्ञा देते हैं। इस दृष्टि से अनुवाद कर्म को मौलिक सृजन की कोटि में रखने के मुद्दे पर प्रश्न चिह्न लग जाता है। खैर, अनुवाद कर्म को मौलिक-सृजन न माना जाए तो न सही, कम-से-कम मौलिक-सृजन के बराबर इसे एक सृजन व्यापार तो माना जाना चाहिए।

सृजनात्मक सामग्री का अनुवाद

अनुवाद के क्षेत्र में सृजनात्मक साहित्य का अनुवाद निरन्तर विवाद से ग्रसित रहा है। प्रायः यह माना जाता रहा है कि यह एक 'असम्भव' कार्य है। दरअसल, "There is no such thing as translation", "All translation is a compromise" o "Traduttore traditore" जैसी उक्तियाँ विशेषकर साहित्यिक अनुवाद के सन्दर्भ में ही कही गयी हैं। इसमें कोई दो राय नहीं कि 'साहित्यिक अनुवाद' दूसरे विषय क्षेत्र के अनुवाद की तुलना में अपेक्षाकृत कठिन होता है। परन्तु कठिनता 'साहित्यिक अनुवाद' की प्रगति में आड़े नहीं आती। हम सब जानते हैं कि साहित्यिक कृतियों का उत्कृष्ट अनुवाद हर युग में होता आ रहा है, भले ही वह पूर्णतः भिन्न प्रकृति की भाषा में क्यों न हो। कविता या अन्य किसी साहित्यिक सामग्री का परिपूर्ण अनुवाद सम्भव न हो तो भी अधिक से अधिक प्रामाणिक भावानुवाद या सारानुवाद तो किया ही जा सकता है। अनुवाद-विज्ञान क्षेत्र के विशेषज्ञ यूजीन अ नाइडा का भी यह मानना है "Rather than being impressed by the impossibilities of translation, anyone who is involved in the realities of translation in broad range of languages, is impressed that effective interlingual communication is always possible, despite seemingly enormous differences in linguistic structures and cultural feature."। अतः साहित्यिक अनुवाद में परिपूर्ण अनुवाद करने के फेरे में न पड़कर, यथासम्भव प्रामाणिक भावानुवाद या सारानुवाद करना ही हमारा लक्ष्य होना चाहिए। इसके लिए हमें मूल रचनाकार के साथ तादात्म्य स्थापित कर मूल रचना की आत्मा को पहचानना होगा। उमर ख़ैयाम की रुबाइयों के सफल और सटीक अनुवादक के रूप में चर्चित हरिवंशराय बच्चन जी 'साहित्यानुवाद, संवाद और संवेदना' में लिखते हैं, ''मूल कृति से रागात्मक सम्बन्ध जितना अधिक होगा, अनुवाद का प्रभाव उतना ही बढ़ जाएगा। वस्तुतः सफल अनुवाद वही है, जो अपनी दृष्टि भावों/कथ्य/ आशय पर रखे। साहित्यानुवाद में शाब्दिक अनुवाद सुन्दर नहीं होता। एक भाषा का भाव या विचार जब अपने मूल भाषा-माध्यम को छोड़कर दूसरे भाषा-माध्यम से

एकात्म होना चाहेगा तो उसे अपने अनुरूप शब्दराशि संजोने की छूट देनी ही होगी। यहाँ पर अनुवादक की प्रतिभा काम करती है और अनुवाद मौलिक सृजन की कोटि में आ जाता है। (पृष्ठ-85)

परन्तु कुछ विद्वानों का कहना है कि, असफल लेखक अनुवादक बन जाता है :

Such is our pride, our folly or our fate,
the few, but such as can't write, translate. (डेनहम)

साहित्यिक अनुवाद के सन्दर्भ में यह बात पूर्णतः लागू नहीं होती। सच तो यह है कि एक सफल साहित्यकार ही एक सफल साहित्यिक अनुवादक बन सकता है। फ़िट्ज़जेरल्ड, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, रामचन्द्र शुक्ल, प्रेमचन्द, हरिवंशराय बच्चन, अज्ञेय, धर्मवीर भारती, निर्मल वर्मा, उदय प्रकाश जैसे अनगिनत साहित्यकार इसके पुख़्ता प्रमाण हैं। मगर यह भी ज़रूरी नहीं कि हर साहित्यिक अनुवादक एक साहित्यकार ही हो। कई अनुवादक ऐसे भी हैं जिन्होंने अपनी नैसर्गिक सृजनात्मक प्रतिभा के सहारे सफल 'साहित्यिक अनुवाद' कर दिखाये हैं।

काव्यानुवाद की समस्याएँ

साहित्यिक अनुवाद के क्षेत्र में काव्यानुवाद निरन्तर विवाद से ग्रसित रहा है और इसकी असम्भाव्यता जगजाहिर है। विक्टर ह्यूगो 'काव्यानुवाद' को एक असम्भव व्यापार मानते हुए कहते हैं : 'A translation in verse seems to me something absurd, impossible.' सेमुअल जॉनसन कहते हैं : 'Poetry, sir can't be translated.' ऐसे ही हायने का मानना है : 'Translation in verse is as engaged in straw plating sunbeams.' परन्तु काव्यानुवाद के सन्दर्भ में जॉक देरिदा के एक कथन का यहाँ उल्लेख करना बहुत ही प्रासंगिक होगा 'अनुवाद में उतना ही आवश्यक है जितना कि असम्भव'। यही कारण है कि 'काव्यानुवाद', अनुवाद की आवश्यकता और असम्भाव्यता दोनों को समान्तर धरातल पर साथ-साथ लेकर निरन्तर आगे बढ़ता आया है। काव्यानुवाद के बारे में क्रिस्तोफर कॉडवेल की यही मान्यता रही है कि कविता लयात्मक होती है, साथ ही अप्रतीकता द्वारा आविष्कृत 'अ-विवेकत्व' गुण विशेषता के कारण कविता का अनुवाद सम्भव नहीं होता। कॉडवेल 'काव्यानुवाद' की असंभाव्यता के लिए जिन कारणों की ओर इशारा करते हैं उसे विस्तार से कहें तो कविता अलंकार, बिम्ब विधान, कल्पना, रस-छन्द योजना, लय आदि कई विशेषताओं से युक्त होती है। अनुवाद में इन सभी विशेषताओं को पूर्णतः सुरक्षित रख पाना सम्भव नहीं होता। इतना ही नहीं, कई कविताएँ लयात्मकता या नादमयता के साथ-साथ द्विअर्थात्मकता लिए होती है, जिसे अनुवाद में हूबहू उतारना शायद ही सम्भव हो। काव्यानुवाद के सन्दर्भ में इतना तो स्पष्ट है कि इसमें परिपूर्ण अनुवाद कभी सम्भव नहीं है। ऐसे में हुम्बोल्त का यह कथन सही प्रतीत होता है—''सारा अनुवाद कार्य बस एक असमाधेय समस्या का समाधान खोजने के लिए किया गया प्रयास मात्र है।' इसलिए काव्यानुवाद में 'पूर्ण अनुवाद' के बदले 'प्रामाणिक भावानुवाद या सारानुवाद' की बात की जाती रही है। समय-समय पर विद्वानों द्वारा उठाए गए निम्नलिखित सवालों ने ही काव्यानुवाद को विवादास्पद बना दिया है :

1. ऐतिहासिक, प्राचीन कविता के अनुवाद में अनुवादक को उस समय प्रचलित भाषा का प्रयोग करना चाहिए या समकालीन भाषा का?

2. काव्यानुवाद में अनुवादक को कितनी छूट दी जानी चाहिए यानि अनुवादक अपनी ओर से कितनी छूट ले सकता है?

3. जब कोई कवि+अनुवादक काव्यानुवाद में तल्लीन होता है, तब वह केवल अनुवादक न रह कर अनुवादक+सर्जक बन जाता है। ऐसे में अनुवाद अनुवाद न रह कर एक नयी कविता बन जाती है। प्रश्न उठता है कि कवि+अनुवादक को अनुवादक कहा जाए या कि अनुसृजक? अनूदित कविता को अनुवाद कहा जाए या अनुसृजन?

4. किसी काव्य-कृति का अनुवाद कभी-कभी मूल के दोषों को बढ़ा देता है और उसके सौन्दर्य को नष्ट कर देता है। इसलिए कुछ विद्वानों ने यह राय भी व्यक्त की है कि कविता के अनुवाद का अधिकार केवल मूल लेखक को ही होना चाहिए, जैसा कि विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी बांग्ला 'गीतांजलि' का काव्यानुवाद अंग्रेजी में स्वयं किया था।

इनकी संक्षिप्त चर्चा यहाँ आवश्यक है। ऐतिहासिक-प्राचीन कविता के अनुवाद में अनुवादक को चाहिए कि वह अपनी समकालीन भाषा को प्रयोग में लाए। किसी कृति के अनुवाद के पीछे जो मूलभूत उद्देश्य होता है, वह भी समकालीन भाषा प्रयोग को ही समर्थन देता है। अंग्रेजी के प्राचीन कवि चौसर के 'A Prologue to Canterbury Tales' का आधुनिक अँग्रेजी अनुवाद इस कथन का समर्थन करता है।

आज भी श्रीमद्भागवद, गीतगोविन्द, रामचरित मानस, अभिज्ञान शाकुन्तलम्, मेघदूतम् आदि प्राचीन साहित्य के अनुवाद आधुनिक भाषाओं में हो रहे हैं। जहाँ तक अनुवादक को मिलने वाली छूट की बात का प्रश्न है, यह प्रश्न अभी भी विवादों के घेरे में है। यहाँ बस इतना कहा जा सकता है कि, पद्यानुवाद में अनुवादक को न तो एक सीमा में बाँधा जा सकता है, न ही उसे पूरी आज़ादी दी जा सकती है। परन्तु इसे एक नियम के रूप में भी नहीं स्वीकारा जा सकता क्योंकि यह मूलतः अनुवादक की सृजनशील प्रतिभा पर ही निर्भर करता है कि वह मूल पाठ का शब्दानुवाद कर बैठा है या कि मूल के आधार पर एक नई कृति। अँग्रेजी कवि ड्राइडन ने Epistle के अनुवाद की भूमिका में साहित्यिक अनुवाद के तीन भेद स्वीकारे हैं :

1. Metaphase - जहाँ शब्दशः अनुवाद किया जाता है।
2. Paraphase - जहाँ अनुवादक अपनी ओर से कभी छूट लेता है।
3. Imitation - जहाँ अनुवादक मूल के कुछ संकेतों को ग्रहण करता हुआ पूर्ण स्वतन्त्रता का प्रदर्शन करता है।

अब कवि+अनुवादक के काव्यानुवाद को लेते हैं। जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है कि कवि+अनुवादक का काव्यानुवाद मूल का एक नया रूप लेकर जन्म लेता है, जिसमें अनुवाद का कम और नई कविता की ज्यादा गंध होती है। कदाचित् इसलिए नौवालिस ने कहा था 'काव्यानुवाद एक

नयी कविता के निर्माण के अनुरूप है' । मगर अंग्रेजी कवि पी.बी. शैली सृजनात्मक-अनुवाद को न तो सृजनात्मक मानते हैं और न ही अनुकरणात्मक, बल्कि इसे एक कलात्मक प्रक्रिया मानते हैं। उनका कहना है–''अनुवाद का काम न तो सृजनात्मक है और न ही अनुकरणात्मक कला है। अनुवाद में अनुवादक की प्रेरणा काम नहीं करती, इसलिए अनुवाद-कार्य सृजनात्मक नहीं होता। अनुवादक तो कृति के अनुरूप सृजन करता है, मगर कृति में निहित विचार को मात्र प्रस्तुत नहीं करता, उसको रूपायित भी करता है। इसलिए अनुवाद-कार्य अनुकरणात्मक भी नहीं होता, अनुवादक एक प्रकार का स्रष्टा है, जो लेखक के यथार्थ के सम्मुख अपने को समर्पित करता है... अनुवाद एक कलात्मक प्रक्रिया होती है।'' अतः काव्यानुवाद को मौलिक सृजन के समकक्ष एक 'सृजनात्मक कला' मानना चाहिए। जहाँ तक मूल रचना के गुण-दोष के परिवर्तन या परिवर्धन का प्रश्न है, काव्यानुवाद में ऐसा हो जाना अनुवादक की मजबूरी है, जहाँ वह दो संस्कृतियों के बीच स्थित समानताओं के बीच साँस लेता है और असमानताओं के बीच जूझता है। चूँकि काव्य-कला पर शब्द-चातुर्य का बोलबाला होता है, अतः इसके पूर्ण अनुवाद की अपेक्षा करना ज़रूरी नहीं है। किसी अनुवादक द्वारा किये गये अनुवाद को न तो अन्तिम एवं सर्वमान्य माना जाए, न ही मूल पाठ की अनुप्रमाणित प्रतिलिपि। मेरे विचार से हर काव्यानुवाद का पुनः और पहले से बेहतर अनुवाद किया जा सकता है।

विद्वानों का मूल लेखक द्वारा ही कविता का अनुवाद करने/कराने वाली बात उतनी ही अव्यावहारिक प्रतीत होती है, जितनी कि गाय के दूध से बने घी को गाय को ही खिलाना। यह ज़रूरी नहीं कि हर लेखक अपनी रचनाओं का अनुवाद खुद ही करे, फिर इस बात पर भी गौर किया जाए कि एक लेखक अपनी रचनाओं का किन-किन भाषाओं में अनुवाद करता फिरे?

खैर इतना तो निर्विवाद है कि काव्यानुवाद में शब्दशः अनुवाद को नकारा गया है। इसके पीछे जो तर्क है, वह यह है कि काव्यानुवाद भी एक कविता का आस्वाद दे। वह भी एक कविता लगे, न कि 'शब्दों का बरबस समाहार'। मुझे यहाँ एक अँग्रेजी कविता का हिन्दी अनुवाद स्वतः याद आ रहा है, जो काव्यानुवाद का उत्तम उदाहरण हो सकता है–

मूल पाठ :

No, all the things once left unuttered
Our duty bids must now be said,
Once falsehood is a loss to us
And only truth can be accepted;
Who zealously conceals the past
Will hardly get on with the future.

(–Alaxander Tvardovsky. from 'By Right of Memory' poem written in 1968 and published in 1986)

हिन्दी अनुवाद :

नहीं, वो सबकुछ जो रह गया अनकहा
फर्ज़ का तक़ाज़ा है हम आज सब कहें
हर झूठ से हम कितना कुछ खोते हैं
इसलिए सच, केवल सच हमें मान्य है
जो जबर्दस्ती अतीत पर पर्दा डालते हैं
उनके हाथ भविष्य एकदम सुरक्षित नहीं

(—अलेकजैण्डर वारडेस्की, 'याददाश्त का अधिकार' 1968 में लिखी और 1986 में प्रकाशित कविता से उद्धृत)

कहने की ज़रूरत नहीं कि यह हिन्दी अनुवाद हिन्दी भाषा की प्रकृति के अनुसार खुद को ढाल लेने के कारण ही बहुत ही सफल, सुन्दर, सटीक बन पड़ा है। बोल्ड की गयी पंक्तियों की तुलना में बातें स्पष्ट हो जाती हैं। इसका समर्थन करते हुए फिट्ज़जेरल्ड ने उमर खैयाम की रूबाइयों का अँग्रेजी अनुवाद करते समय कहा था कि 'भूसा भरे गिद्ध की अपेक्षा में जीवित गौरैया चाहूँगा।' दरअसल काव्यानुवाद में अनुवादक का काम कविता की बीज रूपी आत्मा का पता लगाना है । शैली का यह कथन 'पौधे को बीज से फूटना पड़ता है, नहीं तो उसमें फूल नहीं खिलेंगे', काव्यानुवाद पर पूर्णतः लागू होता है। उदाहरण के लिए, 'कमल के फूल कुम्हलाने लगे हैं/अब तो पानी बदल दो' का अँग्रेजी अनुवाद करना हो तो हम 'Lotus flowers have started deceasing/so, the water must be changed' नहीं कह सकते। हमें कविता की तह में जाकर, कविता की आत्मा को पहचान कर उसमें निहित सन्देश/ अर्थ को समझना पड़ता है। 'कमल के फूल कुम्हलाने लगे हैं/ अब तो पानी बदल दो' के मूल सन्दर्भ को जब समझ जाएँगे तो पाएँगे कि इसमें कवि न तो 'कमल फूल' की बात करना चाहता है और न ही 'पानी बदलने' की चाहत। बल्कि इसके माध्यम से कवि सामाजिक बदलाव पर जोर दे रहा है। अतः इसका सटीक अनुवाद होगा, 'Social system has been paralised/it needs renovation'. अतः सफल काव्यानुवाद सम्पूर्ण रूप से आत्मसातीकरण पर निर्भर होता है, जिसमें भाषा के साथ-साथ लेखक के युग व समय के साथ जुड़ना पड़ता है। अगर कहें कि अनुवादक को मूल लेखक की दुनिया को फिर से जीना होता है तो शायद गलत न होगा। इसके बावजूद अनुवादक के व्यक्तित्व और युगबोध के कारण उसकी भाषा के प्रयोग में वैचारिक, व्यक्तिगत तथा भाषिक शक्तियों का प्रभाव उभर आता है, जिसके परिणामस्वरूप भिन्न-भिन्न आस्वाद प्राप्त होते हैं। उदाहरण के लिए शेक्सपियर के सानेट की दो पंक्तियों का बांग्ला अनुवाद देखें :

मूल :

Shall I compare thee to a summer's day?
Thou art more lovely and more temperate.
–Shakespeare

अनुवाद-1

बसन्त दिनेर सने करिब कि तोमार तुलना?
तुमि आर ओ कमनीय, आर ओ स्निग्ध, नम्र सुकुमार।
—सुधीन्द्रनाथ दत्त

अनुवाद-2

तोमार उपमा आमि देब नाकि बसन्तेर दिने
तुमि आरो रमणीय, शीते-उष्णे आरो ये सुषम।
—विष्णु दे

यहाँ 'lovely' शब्द के लिए दत्त जी ने कमनीय, स्निग्ध, नम्र, सुकुमार जैसे शब्दों का प्रयोग किया है जिसमें 'temperate' की व्यंजना नहीं मिलती, जबकि विष्णु दे जी ने मूल कविता के समानान्तर 'शीते-उष्णे आरो ये सुषम' का प्रयोग किया है।

अब नीग्रो अमरीकी कवि लैंग्स्टन ह्यूजेज़ की एक कविता के अनुवाद को देखें :

मूल :

*As I Grew Older
It was a long time ago
I have almost forgotten my dream.
But it was there then,
In front of me
Bright like a sun
My dream.
And then the wall rose
Rose slowly
Slowly
Between me and my dream
Rose slowly slowly
Dimming
Hiding
The light of my dream
Rose, until it touched the sky
The wall.
–Langston Huges

अनुवाद-1

सपना और दीवाल
बहुत दिन हो गए
मैं अपने सपने को लगभग भूल चुका था
लेकिन सपना अनश्वर था
मेरे सामने
झिलमिलाते हुए सूरज की तरह
मेरा सपना।
और फिर दीवाल उठी
धीरे-धीरे
मेरे और मेरे सपने के बीच
उठती गई धीरे-धीरे
मेरे सपने की रोशनी को
धुँधला करते हुए
रोशनी का गला घोटते हुए
यहाँ तक कि आकाश चूमने लगी
वह दीवाल।

–धर्मवीर भारती

अनुवाद-2

बुढ़ापे का गीत
बहुत दिन बीत गए
मैं अपना सपना लगभग भूल चुका हूँ।
लेकिन तब...तब वह था
एक ज्योतिर्वान सूर्य की भाँति, मेरे सामने ही
था मेरा सपना।
और उसके बाद उगी दीवार
धीरे-धीरे उगती गई
मेरे और मेरे सपने के बीच
धीरे-धीरे उगती गई
मेरे सपने की ज्योति को धुँधलाती, छिपाती
उगती गई : जब तक कि बढ़कर आकाश नहीं छू लिया
(ऐसी) दीवार।

–दूधनाथ सिंह

अब दोनों की तुलना करते हैं :

मूल-16 पंक्ति	**धर्मवीर भारती-15 पंक्ति**	**दूधनाथ सिंह-12 पंक्ति**
As I Grew older	सपना और दीवाल	बुढ़ापे का गीत
I have forgotten	मैं भूल चुका था	भूल चुका हूँ
But it was there then	लेकिन सपना अनश्वर था	लेकिन तब...तब वह था
Bright like a sun	झिलमिलाते हुए सूरज की तरह	एक ज्योतिर्वान सूर्य की भाँति
Hiding	रोशनी का गला घोटते हुए	छिपाती

उपर्युक्त तुलना से स्पष्ट हो जाता है कि भारती जी ने कवि+अनुवादक (सर्जक) की भूमिका निभाई है तो सिंह जी ने मूल को समर्पित अनुवादक की। एक ओर भारती जी ने अपनी ओर से कुछ छूट ली है तो दूसरी ओर सिंह जी ने तटस्थ रहकर अपनी ओर से कुछ नहीं जोड़ा। बावजूद इसके दोनों अनुवाद एक ही बीज से निकले दो अलग-अलग पौधे प्रतीत होते हैं। यहाँ यह कहना अत्युक्ति न होगा कि हर कविता का अनुवाद मूल पर आधारित एक नई कविता का आनन्द देता है। इसलिए दूधनाथ सिंह ने कहा भी है : 'काव्यानुवाद (अनुवाद) अपने समान धर्म, अनुभूति को सहज भाव से कहीं दूसरी जगह पा लेने के फलस्वरूप उसी उत्साह के साथ, अपनी भाषा में उसके पुनर्सृजन का नाम है।'

कथा-साहित्य के अनुवाद की समस्याएँ

कहानी या उपन्यास अनुभूति का साहित्य होता है और कहने की ज़रूरत नहीं कि एक सामाजिक प्राणी होने के नाते कथाकार यह अनुभूति निश्चय ही समाज से प्राप्त करता है। इसलिए साहित्य और समाज के अन्तः सम्बन्ध को रेखांकित करने वाली उक्ति, 'Language is the mirror of society' कथा साहित्य पर पूर्णरूपेण लागू होती है। कथा-साहित्य अपने स्थूल सामाजिक यथार्थ को साहित्य का रंग देकर उसे उपन्यास में विस्तार से या कहानी में संक्षेप में उसका वास्तविक चित्रण करता है। यही कारण है कि जब हम किसी कहानी या उपन्यास को पढ़ते हैं तो उसमें कहीं-न-कहीं हमारा परिवेश नज़र आता है। उसमें चित्रित पात्र हमारे चिर परिचित या आसपास के लगते हैं। मगर यह बात सामाजिक या आँचलिक कहानी या उपन्यास पर जितनी लागू होती है, ऐतिहासिक, मनोविश्लेषणात्मक या तिलस्मी/एयारी वाले कहानी या उपन्यास पर उतनी लागू नहीं होती। जैसा कि हम सभी को ज्ञात है कहानी और उपन्यास के बीच केवल मात्रात्मक अन्तर होता है, गुणात्मक नहीं। दूसरे शब्दों में कहें तो उपन्यास का फलक, कहानी के फलक की अपेक्षा व्यापक होता है। इसीलिए यहाँ दोनों की चर्चा न कर केवल उपन्यास के अनुवाद की चर्चा की जा रही है। प्रसंगवश कहीं-कहीं कहानी का उदाहरण भी दिया गया है।

उपन्यास के अनुवाद की चर्चा करने से पहले हम काव्यानुवाद और कथा-साहित्य के अनुवाद के बीच स्थित सूक्ष्म अन्तर को समझ लेते हैं। कविता में साधारणतः कवि की हृदयानुभूति की

अभिव्यक्ति होती है जबकि कथा-साहित्य में कथाकार की अपनी सामाजिक-अनुभूति का उद्‌गार। तुलनात्मक दृष्टि से विचार करें तो कविता में भावना या कल्पना का शासन होता है तो कथा-साहित्य में वास्तविक यथार्थ का प्राधान्य। तिलस्मी/एयारी कथा-साहित्य इसका अपवाद हो सकता है। अतः दोनों अलग-अलग दुनिया में विचरण करते प्रतीत होते हैं। काव्यानुवाद की चर्चा के दौरान हमने देखा कि पद्यानुवाद में सृजनात्मक प्रतिभा की अनिवार्यता को बराबर स्वीकारा गया है। यही बात कथा-साहित्य के अनुवाद पर भी लागू होती है। उपन्यास या कहानी का सफल अनुवाद केवल एक सृजनात्मक प्रतिभा का धनी अनुवादक ही कर सकता है। कई विद्वानों का यह मानना है कि काव्यानुवाद की तुलना में कहानी या उपन्यास का अनुवाद सरल होता है। मगर यह एक दृष्टिकोण हो सकता है, व्यावहारिक सच्चाई नहीं। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि दोनों सृजनात्मक साहित्य हैं और दोनों की अलग-अलग विशेषताएँ होने के साथ-साथ दोनों का अलग-अलग महत्त्व भी है।

साहित्य के क्षेत्र में उपन्यास अपेक्षाकृत एक आधुनिक विधा है। आज उपन्यास का लक्ष्य केवल पाठक का मनोरंजन करना नहीं रह गया है। आज उपन्यास का मूल उद्देश्य है, समाज में फैले अन्ध-विश्वास, हिंसा, शोषण, कुरूपताओं, विद्रूपताओं को दूर कर एक स्वस्थ समाज का निर्माण करना। कहने का तात्पर्य है कि आज उपन्यास चमत्कारिता के पीछे न भागकर सामाजिक सत्य को अंगीकार कर रहा है, चाहे वह सरल ग्रामीण जीवन की गाथा हो या आज के चमकते-दमकते आधुनिक शहरी जीवन शैली की दास्ताँ। इस विधा में ग्रामीण व शहरी जीवन के बदलते हालात को बराबर अभिव्यक्ति मिलती रही है। उपन्यास के अनुवाद में अनुवादक को भाषा प्रयोग के प्रति सजग होना चाहिए। यथार्थ की अभिव्यक्ति में न तो आडम्बरपूर्ण भाषा की ज़रूरत होती है और न ही अप्रचलित शब्दों के बरबस प्रयोग का औचित्य। कथा-साहित्य का अनुवाद करते समय हमें सदा सरल, सुबोध और सरस बोलचाल के शब्दों का चयन करना चाहिए ताकि पाठक उसे पढ़ते समय उसमें अपने प्रादेशिक रंग (local colour) पा सके। उपन्यास या कहानी में एक क्षेत्र विशेष का, किसी एक आँचलिक परिवेश का चित्रण होने के कारण उसमें अनुवादक को अननुवाद्यता (untranslatability) की स्थिति का सामना करना पड़ता है। साथ ही उस क्षेत्र विशेष में प्रयुक्त लोकोक्तियों/मुहावरों की भरमार भी उसमें रहती है। उदाहरण के लिए फणीश्वरनाथ रेणु के उपन्यास 'मैला आँचल' को लीजिए। कहने की ज़रूरत नहीं कि इसमें प्रयुक्त आँचलिक भाषा, बोलचाल की तर्ज, टूटे-बिखरे वाक्य, विशिष्ट अभिव्यक्तियाँ ही इसे आँचलिक उपन्यास की श्रेणी में ले जाते हैं जो उपन्यास के प्राण-तत्त्व तो हैं ही, साथ ही लेखक के अभीष्ट कथ्य का हिस्सा भी हैं। अनुवादक अगर इसका सीधा-सरल वर्णनात्मक अनुवाद करने में सफल भी हो जाए तो इसके पाठकगण केवल कथ्य के आशय से ही परिचित हो पाएँगे, मूल के विशिष्ट प्रभाव से नहीं। ऐसी ही 'अननुवाद्यता की स्थिति' का एक उदाहरण यहाँ द्रष्टव्य है : 'Lamb of God' का अनुवाद एस्किमो भाषा में कैसे हो सकता है, क्योंकि वहाँ Lamb तो होता ही नहीं। ऐसे में हमें नाइडा द्वारा प्रस्तावित सक्रिय समतुल्यता (dynamic equivalance) का सहारा लेकर एस्किमो भाषा में प्रचलित 'Lamb' का पर्यायवाची

'Seal' जो कि अबोधता का प्रतीक है, को चुनना पड़ेगा। इस प्रकार भारतीय संस्कृति से जुड़े 'कन्यादान', 'माया', 'सुहाग', 'मोक्ष', 'सिन्दूर' आदि अननुवाद्य शब्दों के अनुवाद में हमें पाद टिप्पणी का सहारा लेकर संकल्पनाओं को स्पष्ट करना चाहिए। कुछ आँचलिक शब्दों/वाक्य-खण्डों का अंग्रेजी अनुवाद यहाँ द्रष्टव्य है :

1. अहीर — a community associated with cow herding.
2. साधु — a wandering holy man.
3. अंगोवा (देवताओं के लिए) — offering to the gods.
4. घर में चूल्हा नहीं जला — nothing was cooked.
5. क्या उसमें बरकत होगी? — what kind of plentifulness do it expect from
6. हाँडी — earthen vessel.

कई अनुवादक इस प्रकार के सांस्कृतिक शब्दों को अनुवाद में ज्यों का त्यों रख देते हैं, ऐसे में पाठक न तो शब्द के अर्थ समझ पाते हैं और न ही उससे जुड़ी संकल्पना को। परिणामस्वरूप पाठकगण मूल रचना का आनन्द न उठा पाकर अनुवाद की गन्ध से जूझते रहते हैं। मैंने हाल ही में 'गोदान' का अँग्रेजी अनुवाद पढ़ा जिसमें 'चिलम' को 'chelum', 'दीवान' को 'divan', 'लोटाभर पानी' को 'lotaful water', 'चूनरी' को 'chunri', 'गुल्लियाँ' को 'gulli-dund', 'चपाती' को 'chapati' रख दिया गया है। अगर यह अनुवाद हिन्दी न समझने वाले अँग्रेजी पाठक के लिए है तो ऐसे सांस्कृतिक शब्दों का लिप्यंतरण न कर अँग्रेजी संस्कृति के अनुसार उसमें प्रभावी समतुल्यता की खोज करनी थी या उपयुक्त पाद टिप्पणी के सहारे उनकी संकल्पनाओं को स्पष्ट करना था। और तो और अनुवादक ने एक स्थल पर 'उल्टे पाँव आया और वही जला हुआ तम्बाकू पीने लगा, लेकिन जैसे वह विष प्रतिक्षण उसकी धमनियों में फैलता जाता था। उसने सो जाने का प्रयास किया पर नींद न आयी' का सरल अनुवाद कर दिया गया 'Back in his cot he sat smoking the burnt-out chelum and tried to sleep, but no sleep came' यहाँ दो बातें देखने लायक हैं पहली 'पर नींद न आयी' का अनुवाद 'But no sleep came' कर देना तथा दूसरा 'लेकिन--जैसे वह विष प्रतिक्षण उसकी धमनियों में फैलता जाता था' का अनुवाद करना ज़रूरी न समझना। अनुवादकों को कम-से-कम इस तरह की लापरवाही से बचना चाहिए। ऐसे ही उपन्यास में प्रयुक्त मुहावरों और कहावतों की संकल्पना को पहले समझना चाहिए, तदुपरान्त उसका अनुवाद करना चाहिए। अक्सर उपन्यास में प्रयुक्त कहावतों/मुहावरों में स्थानीय बोली या भाषा का रंग चढ़ा रहता है। अनुवादक को इनसे बारीकी से रूबरू होना पड़ता है।

कुछ अनुवादकों ने उपन्यास का बहुत अच्छा अनुवाद भी किया है। जै रतन ने मन्नू भण्डारी का चर्चित उपन्यास 'आप का बंटी' का अँग्रेजी अनुवाद 'Bunty' के नाम से किया है, जिसके पहले पैरा का अँग्रेजी अनुवाद यहाँ दिया जा रहा है :

मूल :

ममी ड्रेसिंग टेबुल के सामने बैठी तैयार हो रही हैं। बंटी पीछे खड़ा चुपचाप देख रहा है। ममी जब भी कॉलेज जाने के लिए तैयार होती हैं, बंटी बड़े कौतूहल से देखता है। जान तो वह आज तक नहीं पाया, पर उसे हमेशा लगता है कि ड्रेसिंग टेबुल की इन रंग-बिरंगी शीशियों में, छोटी-बड़ी डिबियों में ज़रूर कोई जादू है कि ममी इन सबको लगाने के बाद एकदम बदल जाती हैं। कम से कम बंटी को ऐसा लगता है कि उसकी ममी अब उसकी नहीं रहीं, कोई और ही हो गई।

अँग्रेजी अनुवाद :

Mummy is sitting before the dressing table while Bunty stands behind, watching her. He always watches her with an air of curiosity as she sits there, getting spruced up to go to college. Though he has not been able to delve into their secret, yet he suspects there some magic bottled up in those colourful phials and jars, big and small, ranged on the dressing table which transform Mummy's appearence. As he watches her sitting before the mirror, he feels she is not any more the person he has known so wellµhis very own Mummy. She must be someone elseµa stranger.

उपर्युक्त अनुवाद में मूल के सन्देश और लक्ष्य-भाषा की प्रकृति का सुन्दर समन्वय हुआ है। कभी-कभी काव्यानुवाद की भाँति उपन्यास के अनुवाद में भी अनुवादक की सृजनात्मक प्रतिभा हावी होने के कारण अनुवाद मूल के आधार पर एक नयी कृति बन जाता है। उदाहरण के लिए अज्ञेय जी द्वारा अनूदित 'त्यागपत्र' उपन्यास का एक अंश यहाँ द्रष्टव्य है :

मूल : त्यागपत्र (जैनेन्द्र)

''यहाँ खरा कंजन ही टिक सकता है, क्योंकि उसे जरूरत ही नहीं कि वह कहे कि मैं पीतल नहीं हूँ। यहाँ कंचन की माँग नहीं है, पीतल से घबराहट नहीं है। इसमें भीतर पीतल रह कर ऊपर कंचन दीखने वाला लोभ यहाँ क्षण भर नहीं टिकता है। बल्कि यहाँ पीतल का मूल्य है। इसीलिए सोने के धैर्य की यहाँ परीक्षा है। सच्चे कंचन की पक्की परख यहीं होगी। यह यहाँ की कसौटी है। मैं मानती हूँ कि जो इस कसौटी पर खरा हो सकता है, वही खरा है। और वही प्रभु का प्यार पा सकता है।''

अनुवाद : 'The Resignation' (अज्ञेय)

'Only the real and the living can survive hereµconventional morality withers beneath the burning contempt of the people. Civilisation-culture-decency : these polite myths lose all meaning. The beast rules untamed and unashamed and calls to the beast that is an every man. It does not matter how deeply hidden the latter may be. You have buried him beneath mounds of inhibition and convention to hibernate. Rampant and alert he will come forth. Only if you are human through and through can you hope to survive the ordeal and such as come through are the chosen of the Lord.*

यहाँ मूल पाठ के साथ अनुवाद की तुलना करने से तो पता चलता है कि अज्ञेय ने अनुवाद की आड़ में कितनी छूट ले ली है। इसमें मूल का प्रभाव मात्र है। ऐसे अनुवाद को प्रभावधर्मी अनुवाद कहा जाता है। इसे अनुवाद न कह कर एक नयी कृति कहें तो गलत न होगा। मगर ऐसे में अनुवाद की सफलता नहीं मानी जाती, क्योंकि मूल पाठ का अस्तित्व हमेशा अनुवाद में रहना अनुवाद की पहली और महत्त्वपूर्ण शर्त है।

निबन्ध के अनुवाद की समस्याएँ

निबन्ध कई प्रकार के होते हैं, परन्तु इनमें मुख्य हैं, वैचारिक और ललित निबन्ध। एक में निबन्धकार के निजी विचार, अभिमत आदि का प्राधान्य होता है तो दूसरे में मौलिक सांस्कृतिक-कलात्मक चिन्तन की अभिव्यक्ति। हजारी प्रसाद द्विवेदी के 'अशोक के फूल', विद्यानिवास मिश्र के 'छितवन की छाँह' ललित निबन्ध के सुन्दर उदाहरण हैं। पदुमलाल पन्नालाल बख़्शी ने अपने एक वैचारिक निबन्ध 'क्या लिखूँ' में लिखा है, 'निबन्धों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे मन की स्वच्छन्द रचनाएँ हैं। उनमें न कवि की उदात्त कल्पना रहती है, न आख्यायिका-लेखक की सूक्ष्म दृष्टि; न विज्ञों की गम्भीर तर्क-पूर्ण विवेचना। उनमें लेखक की सच्ची अनुभूति रहती है, उसके सच्चे भावों की सच्ची अभिव्यक्ति होती है, उसका उल्लास रहता है।' निबन्ध में काव्यात्मक उलझनें नहीं होतीं, परन्तु कथात्मक आख्यानों की सूक्ष्म सामाजिक दृष्टि से भी आगे सांस्कृतिक, मिथकीय, पौराणिक तत्त्व उसमें मौजूद रहते हैं, जिन्हें निबन्ध के प्राण तत्त्व कहा जा सकता है। अतः कह सकते हैं कि निबन्धानुवाद, काव्यानुवाद और कथानुवाद के मध्य में आता है। निबन्धानुवाद को काव्यानुवाद से इस दृष्टि से थोड़ा सहज कहा जा सकता है कि कविता के विपरीत निबन्ध में लेखक का मूलभाव स्पष्ट झलकता है। अतः निबन्ध का अनुवाद करते समय अनुवादक को मूल लेखक की उस मानसिक स्थिति, ज्ञान की गरिमा व व्यापक अनुभव को पहचानना होता है, जिसके माध्यम से वह संसार को देख उससे अपने लिए भाव ग्रहण करता है, ताकि अनुवाद में भी यह मौलिक तथा निजी मान्यताएँ बरकरार रह सकें। निम्नलिखित उदाहरण से ये बातें स्पष्ट हो जाएगीं–

मूल :

Writers need a source of strength other than which they find in their talent. Literary talent does not exist by itself; it feeds on a society and depends for its development on the nature of the society. The writer begins with his talent, finds confidence in his talent, but then discovers that it is not enough; that in a society as deformed as ours, by the exercise of his talent, he has sat himself adrift.

हिन्दी अनुवाद :

लेखकों को अपनी जन्मजात प्रतिभा के अलावा भी एक और शक्ति-स्रोत का सहारा अनिवार्य रूप से चाहिये। इसलिए कि कोई भी, कैसी भी साहित्यिक प्रतिभा सिर्फ़ अपने बल-बूते कारगर नहीं हो सकती। उसे फलने-फूलने के लिए वह उस समाज के स्वभाव पर निर्भर होती हैं।

लेखक अपनी यात्रा प्रारम्भ तो अपनी प्रतिभा के बूते पर ही करता है और रचनात्मक आत्मविश्वास भी उसे वहीं से मिलता है। किन्तु शीघ्र ही वह इस सच्चाई का सामना करने को अन्तर्विवश होता है कि इतना काफ़ी नहीं है, कि एक ऐसे समाज में, जो हमारे समाज की तरह विकलांग हो चुका है, अपने लेखक होने को पहचानना और उसे सचमुच जीना बड़े जोखिम का काम है। लहरों की मर्जी पर अपनी नाव को छोड़ देने जैसा।

नाटक के अनुवाद की समस्याएँ

नाटक में केवल संवादात्मक कथन नहीं होता, उसके साथ अभिनय क्रिया भी जुड़ी रहती है। नाटक में संवाद का बड़ा महत्त्व होता है। उपन्यास की भाँति इसमें समानान्तर कथन नहीं होता। इसमें हर पात्र की अलग-अलग भाषा शैली होती है। नायक की अलग, खलनायक की अलग, बिदूषक की अलग। अनुवादक को अनुवाद करते समय, मूल की भाँति नायक का औदात्य, खलनायक की खल प्रकृति, नायिका का सौन्दर्य व महत्त्व, विदूषक की विनोदप्रियता या मस्तमौलापन आदि को सदैव ध्यान में रखकर अभिनय संगत भाषा का निर्माण करना होता है। यह बात हमेशा ध्यान में रखनी चाहिए कि नाटक की रचना की सफलता उसके सफल मंचन में होती है। अतः नाटक के अनुवादक को रंगमंच की सम्यक जानकारी होनी चाहिए। साथ ही पारम्परिक रंग-परम्परा और मूल-पाठ के रंग-विधान के बीच निहित अन्तर को समझना पड़ता है। इसके अलावा सृजनात्मक विधा की भाँति नाटक में कहीं-कहीं लक्षार्थ और व्यंग्यार्थ का प्रयोग भी किया जाता है जो कभी-कभी पूरे नाटक के कथ्य को या निहित सन्देश को व्यक्त करता है। ऐसे में अनुवादक को ख़ास सावधानी बरतनी पड़ती है। ये सब नाटक के अनुवाद की कठिनाइयाँ हैं। इसके अलावा नाटक साहित्य के कुछ ऐसे रूप भी हैं, ख़ासकर संस्कृत और काव्य-नाटक, जिनका अनुवाद करना लोहे के चने चबाने के बराबर है। उदाहरण के लिए शेक्सपियर, टी.एस. इलियट, कालिदास, यूनानी नाटक, रवीन्द्रनाथ तथा धर्मवीर भारती के काव्य-नाटकों का अनुवाद करने में अनुवादक को कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। पहला सवाल तो यह उठता है कि ऐसे काव्य नाटकों का अनुवाद पद्य-बद्ध होना चाहिए या गद्य-बद्ध। शेक्सपियर के नाटकों का पद्य तथा गद्य, दोनों में अनुवाद हुआ है। मगर अधिक सफलता गद्यानुवाद को मिली है। मगर आज के सन्दर्भ में, क्या भारती जी के 'अंधायुग' नाटक का गद्यानुवाद करना प्रासंगिक होगा? यह प्रश्न विचारणीय है। दूसरा प्रश्न है संस्कृति का अन्तरण, जिसमें अनुवादक की दूरदर्शिता और लक्ष्य-भाषा की ऐतिहासिक/सांस्कृतिक परम्परा का गहरा ज्ञान, दोनों की जरूरत होती है। उदाहरण के लिए शेक्सपियर के 'मेकबेथ' की दो पंक्तियों का अनुवाद देखिए :

मूल :

(डंकन की हत्या करने के पश्चात अपने रक्त रंजित हाथों को देख कर मैकबेथ कहता है)

Macbeth :

Will all great Neptune's ocean wash this blood
clean from my hand ?
no : this my hand will rather

the multitudinous seas incarnedine
macking the green one red.

अनुवाद (बच्चन) :

मैकबेथ : जो मेरे हाथों खून लगा उसके तो
महावरुण का सारा पारावार नहीं धो सकता।
यही नहीं मेरे हाथ करेंगे
उच्छल फ़ेनाच्छ्वसित जलधि को भी रक्तारुण
जो कि हरा है लाल बनेगा।

यहाँ बच्चन जी ने 'great Neptune's ocean' का अनुवाद भारतीय संस्कृति को ध्यान में रख कर ''महावरुण का सारा पारावार' किया है। इस प्रकार नाटकों के शीर्षकों/पात्रों के नामों के अनुवाद में भी सांस्कृतिक बदलाव करने का रिवाज़ है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'Merchant of Venice' का अनुवाद 'दुर्लभ बन्धु' के नाम से किया। मुंशी इमदाद अली ने 'The comedy of errors' का अनुवाद 'भ्रमजाल' नाम से किया, जबकि लाला सीताराम ने इसे पुनः 'भूल भुलैया' नाम से अनुवाद किया, जिसमें शेक्सपियर की नाट्य-शैली का अनुकरण करने की काफी कोशिश की गयी।

अतः साहित्यानुवाद एक प्रकार का पुनर्सृजन ही है, जिसे अनुवाद की भाषा में अनुसृजन कह सकते हैं। फिर चाहे वह कविता हो या उपन्यास, नाटक हो या कहानी। किसी भी साहित्यिक विधा का अनुवाद करना अपने आप में एक चुनौती है, एक सृजन-व्यापार है, जो सदैव सृजनात्मक प्रतिभा की माँग करता है।

हिन्दी अधिकारी
राजभाषा प्रकोष्ठ
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

भारत में महिला सशक्तिकरण

– अनुपमा कौशिक

एक सशक्त महिला वह है, जो अपने जीवन संबंधी निर्णय स्वयं ले सके तथा जिसमें आत्म मूल्य हो और जो अपने आस पास के माहौल को कुछ हद तक प्रभावित कर सकती हो।

आज के युग में महिला सशक्तिकरण की आवश्यकता महसूस होने का बुनियादी कारण है, कि हम एक पितृसत्तात्मक समाज में रह रहे हैं। पितृसत्तात्मक समाज में पुरुष को महिला से श्रेष्ठ व उच्च माना जाता है तथा कठोर कार्य विभाजन होता है। जिसमें महिला का कार्य घरेलु अर्थात पति, बच्चों व घर की देखभाल करना माना जाता है तथा पुरुष का कार्यक्षेत्र बाहरी होता है, खासकर आजीविका अर्जित करने का। यह कार्य विभाजन महिला को पुरुष पर निर्भर बनाता है तथा कई बार महिला के शोषण व उस पर होने वाली हिंसा का कारण भी बनता है। महिला को ऐसी हिंसा से बचाने के लिए महिला सशक्तिकरण आवश्यक है। साथ ही यह समझना जरूरी है कि जिस देश व समाज की महिला सशक्त नही होगी, उस देश व समाज का विकास होना संभव नही है।

भारत के इतिहास को महिलाओं की दृष्टि से यदि देखें तो उसे पाँच कालों में विभाजित किया जा सकता हैः वैदिक काल, उत्तर वैदिक काल, मध्यमकाल, ब्रिटिश काल तथा स्वतंत्रता के पश्चात का काल।

वैदिक काल में भारतीय महिला सशक्त थी, उसे अपना वर चुनने की, शिक्षा प्राप्त करने की, व्यवसाय करने की स्वतंत्रता थी। पर्दा प्रथा, बाल विवाह, सती प्रथा का अभाव था तथा विधवा विवाह प्रचलन में था। महिला को संपत्ति प्राप्त करने का भी अधिकार था। इस काल में पति-पत्नि साथी थे।

उत्तर वैदिक काल में महिला की स्थिति में गिरावट आने लगी महिला की शुद्धता पर बल दिया जाने लगा तथा अंतर्जातीय विवाह पर प्रतिबंध लग गया। पति अब देवता हो गया तथा महिला को पिता, पति व पुत्र की अधीनता स्वीकारनी पड़ी। बहु पत्नी प्रथा, सती प्रथा, बाल विवाह तथा घरेलू हिंसा का प्रारंभ हुआ।

मध्यकाल में महिला की स्थिति में और गिरावट आई। कन्या शिशु हत्या, बहुपत्नी प्रथा, पर्दा, अशिक्षा, घरेलु हिंसा, जौहर, सती, देवदासी व हरम प्रचलित हो गये। विधवा विवाह प्रतिबंधित हो गया। महिला घर में कैद हो गई व पुरुष पर पूर्णरूपेण निर्भर हो गई। उसकी स्थिति स्पष्टतः पुरुष में निम्न थी।

ब्रिटिश काल में भी मध्यकाल की सभी बुराईयाँ विद्यमान थी हाँलाकि कुछ समाज सुधारकों जैसे राजाराममोहन राय, ईश्वर चंद विद्यासागर व स्वामी दयानंद सरस्वती ने कुछ कुरीतियों को समाप्त करने की कोशिश की थी। ब्रिटिश सरकार व मिशनरियों ने भी कुछ कुरीतियों को समाप्त करने के प्रयास किये थे। परन्तु वास्तविक परिवर्तन महात्मा गाँधी द्वारा लाया गया। गाँधी ने सभी कुरीतियों के खिलाफ आवाज उठाई तथा महिला को पुरुष के समान अधिकार मिलने की वकालत की। उन्होंने महिलाओं को भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन (स्वतंत्रता संग्राम) तथा सामाजिक पुनरुत्थान के कार्यों में सम्मिलित किया। महिलाओं ने खादी को अपनाया, विदेशी माल का बहिष्कार किया, प्रभात फेरियाँ निकाली, शराब की दुकानों पर धरना दिया, जुलूसों में सम्मिलित हुई, जेल गई व कुछ ने आत्म बलिदान भी दिया।

महिलाओं की स्वतंत्रता आंदोलन में भागीदारी ने उन्हें संविधान निर्मात्री सभा में स्थान दिलाया तथा संविधान में पुरुषों के समान नागरिक व राजनीतिक अधिकार दिया। स्वतंत्रता प्राप्ति के साथ ही भारत को प्रथम महिला राज्यपाल के रूप में सरोजनी नायडु, प्रथम महिला केन्द्रीय मंत्री के रूप में राजकुमारी अमृत कौर, प्रथम महिला राजदूत के रूप में विजयलक्ष्मी पंडित व प्रथम महिला जिला न्यायाधीश के रूप में अन्ना चांडी मिली थी। प्रथम महिला कुलपति के रूप में हंसा मेहता, प्रथम मुख्यमंत्री के रूप में सुचेता कृपलानी मिली। बाद के वर्षों में प्रथम महिला प्रधानमंत्री के रूप में इंदिरा गांधी व प्रथम महिला राष्ट्रपति के रूप में प्रतिभा पाटिल मिली।

प्रथम महिला आई.एस.एस. ईशा बसंत जोशी(1951) बनी तथा प्रथम महिला आई.पी.एस. किरन बेदी (1972) बनी और प्रथम महिला मुख्य न्यायाधीश (उच्च न्यायालय) लीला सेठ 1978 में बनी। उच्चतम न्यायालय की प्रथम महिला न्यायधीश 1989 में फातिमा बीबी बनी।

निश्चित तौर पर कुछ भारतीय महिलायें हर क्षेत्र में सशक्त होकर उभरी परन्तु आज भी सामान्य भारतीय महिलायें बहुत कठिन परिस्थितियों का सामना करती हैं जैसे-- कन्या भ्रूण हत्या, बाल विवाह, दहेज, घरेलू हिंसा, पर्दा, अशिक्षा, गरीबी, बहु पत्नी प्रथा (मुस्लिम समाज में) छेड़-छाड़ व बलात्कार।

2011 की जनगणना के अनुसार भारत में एक हजार पुरुषों पर मात्र 943 महिलायें हैं।[1] महिला साक्षरता दर 65.5 प्रतिशत तथा पुरुष साक्षरता दर 82.1 प्रतिशत है। महिला साक्षरता दर पुरुषों से 16.8 प्रतिशत कम है।[2] एक लाख महिलाओं में से 167 माँ बनने के दौरान मुत्यु को प्राप्त होती हैं[3] तथा मात्र 48 प्रतिशत को ही परिवार नियोजन के साधन उपलब्ध होते हैं। लोकसभा में मात्र 66 महिलायें हैं जो लगभग 12 प्रतिशत हैं[4] तो राज्य सभा में मात्र 28 महिलायें हैं, जो लगभग 11 प्रतिशत है।[5] भारत के सर्वोच्च न्यायालय में 25 न्यायाधीशों में मात्र एक महिला हैं[6], जो कि मात्र 4 प्रतिशत है, जबकि सभी उच्च न्यायालयों में लगभग 10 प्रतिशत महिला न्यायधीश हैं।[7] भारतीय पुलिस में मात्र सात प्रतिशत महिलाएं हैं।[8] आँकड़ों से स्पष्ट है कि नौकरियों व सेवाओं में पुरुषों की तुलना में हर स्तर पर महिलाओं की संख्या बहुत कम है।

आवश्यकता है कि भारतीय महिलाओं को सशक्त किया जाये। क्योंकि एक सशक्त महिला ही स्वयं के, परिवार के, समाज के व देश के विकास में योगदान प्रदान कर सकती हैं। ये देश जितना पुरुषों का है, उतना ही महिलाओं का भी है और ये महिलाओं का अधिकार भी है और कर्तव्य भी कि इस देश के विकास में वे अपना भरपूर योगदान दे। परन्तु इसके लिए आवश्यक है कि महिलाओं की सुरक्षा, शिक्षा, संसाधन व अवसर प्राप्त हों ।

एसोसिएट प्रोफेसर
राजनीति एवं लोकप्रशासन विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

संदर्भ सूची -

1. *www.census2-011.co.in/sexratio.php, Accessed on 24.11.17.*
2. *http://censusindia.gov.in/2011-prov results/ data_files/mp/ 07 Literacy.pdf, Accessed on 24.11.17.*
3. *http://niti.gov.in/content/maternal-mortality-ratio-mmr-100000-live-births, Accessed on 24.11.17.*
4. *M P Track-Lok Sabha, http://www.prsindia.org/mptrack/16loksabha/list?gender=kfemale, Accessed on 24.11.17.*
5. *Parliament of Rajya Sabha, http://164.100.47.5/Newmembers /women.aspx, Accessed on 25.11.17.*
6. *List of sitting judges of Supreme Court of India, http://en. wikipedia. org/wiki/list_of_sitting_judges_of_the_Supreme_Court_of_India, Accessed on 25.11.17.*
7. *https://yourstory.com/2017/04/highcourts-headed-by-women/, Accessed on 25.11.17.*
8. *Only seven percent women in police forces: Govt, http://indianexpress.com /article/india /only-seven-per-cent-women-in-police-forces-govt/, Accessed on 25.11.17.*

‘पृथ्वी का प्रथम स्नान’ : जीवन की वापसी का आग्रह

– राजेन्द्र यादव

समकालीन कविता में काव्य संवेदना लगातार विस्तृत और सूक्ष्म होती जा रही है। यहाँ विस्तृत से तात्पर्य जीवन की छोटी-छोटी घटनाओं, वस्तुओं, हासिये के लोगों के साथ तकनीकि सभ्यता से आक्रांत हमारे प्रकृति से टूटते, विकृत होते मनुष्य के रिश्तों का यहाँ गहरा एहसास है। समकालीन कविता भी अपने लगभग पचास वर्ष की अवधि को पार का चुकी है, इस आधी सदी के समय में लिखी गई हिन्दी कविता को आपातकाल के बाद लगातार बदलते हुए देखा जा सकता है। साठोत्तरी हिन्दी कविता के बाद हिन्दी कविता में लगातार विस्तार देखा जा सकता है। नारों, चीखों, पोस्टर से आगे हिन्दी कविता में जीवन की संवेदनशील समीक्षा आपातकाल के बाद लगातार सक्रिय रचनात्मक शिल्प का केन्द्रिय हिस्सा रही है। हिन्दी कविता के इतिहास देखे तो अतिशयोक्तिपूर्ण वीरता, आध्यात्मिक प्रेम की मानवीयता, सामाजिक बराबरी और निर्गुण सगुण के साथ राजाश्रय की प्रशंसा की बहुआयामी यात्रा करते हुए, हिन्दी कविता छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और नयी कविता में ढली। हिन्दी कविता के सूत्र लगातार युगीन सामाजिक, राजनैतिक संबंधों से सम्पृक्त रहे हैं। समकालीन हिन्दी कविता ने भी उसकी दीर्घ अवधि में अपने समय के उतार-चढ़ाव को गहरे स्तर पर परिभाषित करने की कोशिश की है। इस बीच समकालीन हिन्दी कविता के अनेक सार्थक कोण भी उभरे और परिपक्व भी हुए। दलित और आदिवासी हिन्दी कविता के दो समृद्ध सोपान आज हिन्दी कविता की समकालीन धारा में एक मुकम्मल पहचान के रूप में स्थापित हो चुके हैं, यह हिन्दी की समकालीन का सबसे उज्ज्वल और महत्त्वपूर्ण विस्तार है। समकालीन हिन्दी कविता वस्तुओं, रिश्तों, लोगों, पास-पड़ोस और प्रकृति की मादक, देहिक गंध से बाहर निकलकर जीवन के यथार्थ को दलित समाज की पीड़ा और अपमान के साथ तथा जनजातियों के जीवन की भयावहता और संघर्ष को अभिव्यक्त होते देखा जा सकता है। समकालीन कविता में इस युग को उत्तर समकालीन कविता युग की संज्ञा दी जा सकती है।

कविता, गीत, संगीत और आनंद का स्रोत रही है, अपने वृहत सन्दर्भ में कविता, हिन्दी साहित्य के काल विभाजन के अनुसार आदिकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल सहित आधुनिक हिन्दी काल में भी छायावाद राष्ट्रीय और सांस्कृतिक कविता आदि लय-तान, संगीत और गायन के आनंद की अनुभूति को रसिकों के आकर्षण को विषय के साथ ढोती थी। इस तरह के गुणों से लदी कविता को ही

हिन्दी की शैशव आलोचना ने कालजयी कविता, साहित्य कहा था। मैं यहाँ केवल यह स्पष्ट करना चाहता हूँ कि आज हिन्दी की समकालीन कविता को यदि आप गाना चाहे तो गा सकते हैं, पर उसके लिए पुराने राग और लय काम नहीं आयेंगे। जीवन के यथार्थ की अनुभूतियाँ और संघर्ष शब्दों की रगों से होकर जब समकालीन कविता के केनवास पर अपनी अभिव्यक्ति का सामयिक चित्र बनाती है तो वह चित्र हमारे समकालीन जीवन की तरह रंगहीन, विकृत होने के कारण किसी तरह का आनंद कैसे दे सकता है। हिन्दी कविता में सार्थकता और आनंद ढूँढने वालों को नहीं पता कि सौ वर्ष की यात्रा पूरी करने के बाद, अब हिन्दी कविता भारत की सभी भाषाओं के साथ अपनी समकालीनता को तथा उसमें अभिव्यक्त जीवन को पूरी जिम्मेदारी के साथ व्यक्त कर पा रही है। आज हिन्दी की समकालीनता और उसके जीवन की विस्तृत और यथार्थ अभिव्यक्ति की संवेदनशीलता भारतीय भाषाओं के लिए सहज अनुकरणीय बन गयी है। हिन्दी की समकालीन कविता में अनेक स्वर एक साथ ध्वनित होते देखे जा सकते हैं। प्रकृति के अंतहीन दोहन से उत्पन्न भयावहता से पृथ्वी के अस्तित्व को ही खतरा उत्पन्न हो गया है, ब्राह्मण्ड में करोड़ों पिण्डों की उपस्थिति के बावजूद तमाम आधुनिक वैज्ञानिक निष्कर्षों में आज भी जीवन सिर्फ पृथ्वी पर संभव है। ब्रह्माण्ड की की इस अद्बितीयता से भरी पृथ्वी पर लगातार जीवन का संकट मनुष्य की अंतहीन आवश्यकताओं के कारण बढ़ता ही जा रहा है। प्रकृति के साथ मनुष्य के बदलते रिश्तों और सरोकारों का भी हिन्दी की समकालीन कविता में गहरा एहसास है। प्रकृति के साथ मनुष्य के संबंधों को पुनर्नवा करती कविताएँ हाल ही में प्रकाशित श्यामसुन्दर दुबे के कविता संग्रह ''पृथ्वी का प्रथम स्नान'' के केन्द्र में है। लगातार सुख सुविधाओं और जल्दवाजी की दौड़ में हाँफती आधुनिकता और प्रकृति से बढ़ती दूरी ने मानव जीवन को बीमार और विकृत कर दिया है। ऐसे में श्यामसुन्दर दुबे की कविताओं में प्रकृति की वापसी को जीवन की सुखद स्मृतियों के रूप में देखा जा सकता है। प्रकृति पर हो रहे हमलों और अतिक्रमण से पृथ्वी का समूचा जीवन ही खतरे में पड़ गया है। पृथ्वी पर जीवन को संभव बनाती परिस्थितियों की यात्रा इस कविता संग्रह के विषय वस्तु का सार्थक पक्ष है। तुलसी के क्षिति जल पावन गगन समीरा के संतुलित मिश्रण से बनी देह को यहाँ नया और समय सापेक्ष विस्तार दिया गया है।

'पृथ्वी का प्रथम स्नान' संग्रह की कविताओं को कवि ने दो खण्डों में रखा है-- एक सृष्टि संभव, दूसरा दृश्य-परिदृश्य। सृष्टि संभव खण्ड को पृथ्वी, जल, आग, हवा, आकाश, देह और प्रेम उपखण्ड में भी बांटा गया है। समकालीन हिन्दी कविता में अपनी विषयवस्तु और प्राकृतिक जीवन की और लौटने के मानवीय जीवन संदर्भ को प्रकृति के उपादानों के साथ सार्थक रूप में विन्यस्त होते देखा जा सकता है। प्रकृति के जितने उपादानों से पृथ्वी पर जीवन संभव हुआ होगा आज उन सभी तत्त्वों का प्राकृतिक स्वरूप नष्ट हो चला है। मिट्टी, हवा, पानी के सभी स्रोत भयानक प्रदूषित होकर जीवन के लिए खतरा बन गये हैं। कारखानों, परमाणु, घरों के रेडियोएक्टिव कचरे को पृथ्वी के गर्भ में गहरे दबाया जा रहा है। विश्व के अनेक तथा कुछ भारत के भी शहर सांस लेने लायक नहीं बचे हैं। ऐसे में सृष्टि संभव खण्ड में प्रकृति की और वापसी का मानवीय आग्रह करती यह कविताएँ समकालीन हिन्दी

कविता संसार में अपना नया मुहावरा प्रस्तावित करती हैं। पृथ्वी के जन्म को 'गुस्सैल स्त्री' कविता में नये रूप में व्यक्त होते देखा जा सकता है–

एक गुस्सैल स्त्री नहाती रही।
लावा की नदियों में वर्षों तक आग-आग होती रही।

पृथ्वी की ब्रह्माण्ड में उत्पत्ति की वैज्ञानिकता को व्याख्यात्मक मानवीय रूपक में नये अर्थ में रचा गया है। प्रकृति के तमाम उपादान नदियाँ, वर्षा, पहाड़, पेड़-पौधे, जीव-जन्तु, बादल, ओस, प्रेम, करूणा, मानवीय जीवन एक भरी-पूरी महाकाव्यात्मता जैसी पृथ्वी पर उपजी थी, जीवंत थी आज मनुष्य की अंतहीन उपभोग की प्रवृत्ति से पृथ्वी का प्राकृतिक परिवेश जहरीला होने लगा है। समुद्र, नदियां, वर्षा, झीलें दूषित और मृत होने लगी हैं। आज विश्व की अनेक नदियां जहरीली हो गयी हैं, यह कैसे हुआ?किसने किया? यह सब मनुष्य की देन है, जिसकी गति नहीं रूकी तो पृथ्वी पर न केवल मनुष्य सभी जीवों का भयावह अंत होना तय है। इस संसार की सर्वोत्तम कविता पृथ्वी का प्राकृतिक परिवेश है, इसी बात को संग्रह की पहली कविता में कवि श्यामसुन्दर दुबे ने सार्थक अभिव्यक्ति दी है। पृथ्वी की इस असंख्य ब्रह्माण्ड में अद्वितीयता सर्वज्ञ है, और उसी की मानवीय व्यापकता में लता मंगेशकर को भी शामिल किया गया है। धरती का पता, धरती की सुख-नींद, धरती दिया-बाती है, कविताओं में धरती के जन्म से लेकर आज के अनुभवों, विपत्तियों और सृजन को कवि ने प्रभावी रूप में अभिव्यक्त किया है। सृष्टि संभव खण्ड की जल सीरीज कविताओं में 'जल में कुंभ' कविता अशोक वाजपेयी की लंबी कविता 'शताब्दी के अंत की कगार पर' में 'कुम्हार' की याद दिलाती है। यहाँ एक बात स्पष्ट है कि अशोक वाजपेयी का कुम्हार हमारा रोजमर्रा का कुम्हार है, पर श्यामसुन्दर दुबे की कविता का कुम्हार हमारे रोजमर्रा के वर्तन बनाने वाले कुम्हार से भिन्न कोई महाकुम्हार है, जिसे कविता अपनी भाषा में मानवीय धरातल से भिन्न कहीं उद्भव लोक में होने की बात करती है, पर कविता यहां टुकड़ों में बिखर जाती है, कोई सार्थक समकालीन चित्र ब्रह्माण्ड के कुम्हार का दुबे बना नहीं पाते। कविता को ज्यादा विस्तार से भरने की कवि की जिद को कविता में बिखरते देखा जा सकता है।

यहाँ यह स्पष्ट करना जरूरी है कि कविता पर उसके 'फ्रेम' (खांचे) से अधिक भार डालना, कविता को असाधारण बनाने की कोशिश करने से कविता के प्रवाह की भावात्मक गति और लय टूट जाती है, जिससे कविता विवरण की मानसिकता का शिकार हो जाती है। विषय चाहे जो हो समकालीन कविता की लोकप्रियता और सार्थकता उसके भारी भरकम केनवास से नहीं उसके समकालीन जीवन और भावात्मक आंतरिक लय से है। कुछ कड़वी बातें भी यहाँ आ जाय तो आ जाय पर मुझे अपनी बात रखने से गुरेज नहीं। जैसे समकालीन कविता में कवि जब मध्यकालीन प्रतीक इस्तेमाल करता है, तो उसे कविता की मूल भाषा और विषय वस्तु में पिरोना भी आना चाहिए, पर अमूमन ऐसा हो नहीं पाता। मसलन कबीर के, तुलसी के काव्य, आध्यात्म और जीवन में प्रकृति के प्रतीकों का समकालीन कविता में पिछले साठ वर्षों से प्रयोग किया जा रहा है। पर बहुत कम कवि समकालीन कविता में तुलसी के पंच तत्व और उसकी देहिक सृष्टि को अपनी भाषा, शब्द, भाव और लय के साथ सार्थकता में रच पाये हैं, ज्यादातर ने अपने व्याख्यात्मक क्षितिज को परम्परागत

अनावश्यक विस्तार देने या कविता के समय को युगों के आर-पार पहुँचाने के लिए ही प्रयोग किया है। बड़ी विनम्रता से यहाँ मैं स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि कबीर की चदरिया और कुम्हार के चाक को अनावश्यक घुमाने में तथा प्रकृति, मिट्टी, हवाएँ, आकाश, सूरज को कवि ने मानवीय बनाने की जो कोशिश की है, वह कविता की भाषा के हाथ से कहीं छूट गयी है। यहाँ समकालीन जीवन, मनुष्य के दबाव के साथ प्रकृति के उपदानों की अभिव्यक्ति का संतुलन या तालमेल कविता से छूटता दिखायी देता है। यहाँ ऐसा लगता है कि मानों प्रकृति के साथ मनुष्य की दुनिया को उसकी भाषा में उपक्रम करके रचा गया है।

कविता श्यामसुन्दर दुबे के यहाँ सृष्टि खण्ड में कविता से कहानी और वह भी सुनी-सुनायी होने की निराशा से भर जाती है। कविता के फारमेट में विवरण और सुनी कहानी को कवि भाषा के आकर्षण से वैसा नहीं भर पाया है, जैसा समकालीन कविता सृष्टि की गाथा सुनाते हुए, अपने समकालीन मनुष्य के दबावों और तनावों को व्यक्त कर सकती थी, पर श्यामसुन्दर दुबे जी के काव्य संग्रह में कविता अपने समकालीन मनुष्य को छोड़कर सृष्टि के जन्म के गीत गाने लगती है। जल में कुम्भ, पानी में थी प्यास, पानी की लय न टूटने पाए, बर्फ से पूछना पानी का पता, पानी की अंतरंगता आदि कविताओं में पानी के, जीवन के, मनुष्य के साथ रिश्ते को जीवन के प्रारंभ से लेकर आज तक ये संदर्भ में सार्थक रूप में व्यक्त किया गया है, पर यहाँ भी शब्दों पर युगों का भार अनावश्यक प्रतीत होता है। इन कविताओं का सबसे दुर्बल पक्ष है भाषा कौशल के साथ आकर्षण की लय यहाँ थोड़ी कमजोर होने से कविता अपनी ओर खींच नहीं पाती। पर यहाँ कविता में पानी, त्याग, शक्ति, लोकगीत, काम वासना, सम्मान, नये पत्ते, वर्फ, नृत्य, गीत, संगीत, समूचे मानवीय जीवन में पानी के खजुराहों होने तथा जीवन के प्रत्येक पक्ष का पानी से प्रभावित होना जल खण्ड की कविताओं की केन्द्रिय अभिव्यक्ति है। आग-उपखण्ड की कविताओं में मनुष्य के आग के साथ सम्बन्ध को समकालीन कविता में यहाँ चन्द्रकांत देवताले से आगे का जरूरी विस्तार दिया गया है। 'आग हर चीज में बतायी गई थी' चन्द्रकांत देवताले के काव्य संग्रह को श्यामसुन्दर दुबे के यहां नये रूप में पुनर्नवा होते देखा जा सकता है। आग का प्रेमगीत यहाँ अपनी पूरी आदिम आभा के साथ समकालीनता के तनाव को भी ईमानदारी से व्यक्त करता है। यहाँ श्यामसुन्दर दुबे ने प्राचीन का समकालीन जीवन से जीवंत रिश्ता बनाया है-

आग बुझती नहीं वह चलती है चीजों के आर-पार
चीजों के रूप-रंग को बदलती
जो जैसा है- वैसा नहीं रह जाता
आग जब उसके भीतर से गुजरती है।

आगः का प्रेमगीत, आगः जीवन की उजास, आगः जो जलाती है, सब कछ, आग बहुत जजबाती, आरी सी आग, आदि कविताओं में आग का मनुष्य जीवन के साथ आदिम संबंधों सहित आग के प्रतीकों के प्राचीन से लेकर आधुनिक रूपों को मानवीय जीवन के साथ गहरे अर्थों में अभिव्यक्त किया गया है। जहाँ एक तरफ चूल्हे से लेकर मन की आग है, तन की आग है और पेट की

आग से लेकर चिता की आग को कवि ने भाषा के केनवास में नये रूप और अर्थ में व्यक्त किया गया है। संग्रह में सृष्टि खण्ड के तीसरे उपखण्ड 'हवा' में जीवन की आधुनिकता को जीवन के आदिम रूप के साथ मानवीय बनाया गया है। यहाँ शब्द भाषा, प्रतीक और समय सब जैसे मिले हुए हैं, गुँथे हुए हैं, हवा से उन्हें अलग नहीं किया जा सकता। हवा में उड़ती रंग-बिरंगी तितली और हवा में उड़ते फुग्गे के साथ बहुत ऊपर उड़ रहे हवाई जहाज सब हवा के पास, हवा के साथ हवा के दायरे में हैं। फेफड़ों और ट्रक के टायरों का हवा से गहरा रिश्ता नया नहीं है। पहिये के घूमने से, चिमनियों के धुआँ तक 'अज्ञेय' से श्यामसुन्दर दुबे तक लगातार में हिन्दी कविता में हवा को लेकर बदलती हुई समय सापेक्ष काव्य चेतना देखी जा सकती है।

'आकाश' उपखण्ड की कविताओं में आकाश की अनंतता को 'बचता है केवल शून्य' कविता में जीवन की अंतहीन प्रतीक्षा के माध्यम से हिन्दी की समकालीन कविता में अपना थोड़ा सा आकाश बुना है। सबके अपने-अपने आकाश होते ही हैं, पर इस अपने-अपने आकाश के साथ ही एक सांझा आकाश भी होता है, जिसमें सभी के चेहरे, ध्वनियाँ, खुशियाँ सदन और जीवन का समय बीतता है, दर्ज होता है, वह आकाश यहाँ कवतिा के संवाद में संभव होते हुए देखा जा सकता है। 'देह' उपखण्ड की अग्नि संभवा, देहफूल, अचरज भरी देह, देह बड़ी प्यारी है, कविताओं में देह के आदिम स्वरूप को साहित्य में देह के विस्तृत प्रतीकों को भी यहाँ कविता में सार्थक अभिव्यक्ति दी गई है। देह की अनेक अनेक जरूरतें, सच्चाईयाँ और भूखें हैं, जिन्हें यहा हिन्दी की समकालीन कविता में अन्यों से भिन्न एवं खुले रूप में कलात्मकता की लय और शब्दों में गद्य की समानान्तर शैली में प्रभावी रूप में अभिव्यक्त किया गया है। देह के जितने भी साहित्य और काव्य रूप हो सकते हैं, हुए हैं, उन्हें कविता में उनके मूल से भिन्न और वाजिब स्वरूप में नये तरह से अभिव्यक्ति मिली है। 'देह बड़ी प्यारी है' कविता में देह की गंध, घृणा, प्रेम, छाया, माया, रोटी, चिन्हारी, बोटी, आरी, के मध्यकालीन प्रतीकों को कवि ने यहाँ समकालीन बना लिया है। यहाँ सचमुच देह की प्राचीन घिसी पिटी संज्ञाओं को कविता की भाषा में नये रूप में ढलते अभिव्यक्त होते देखा जा सकता है।

कविता कवि के हाथों का ऐसा औजार है, जिसे वह अपनी प्रतिभा और कौशल से कलात्मक सार्थक बनाता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि रचनाकार अपने समय के तनावों से किसी भी सूरत में बचकर नहीं निकल पाता है, समय की वृहत चेतना के पार कविता अपना मौलिक संसार रचने की कोशिश करती है, पर वह अपने समय की सामूहिक मनःस्थिति से बचकर नहीं निकल पाती, निकलना भी नहीं चाहिए, यदि कविता मनुष्य के लिए है, तो उसे अपने समकालीन जीवन के तनावों से बचकर क्षितिज के पार जाने की इजाजत तभी है, जब वह इस जीवन में रहते सहते हुए सपना देखे। समकालीन कविता की केन्द्रीय काव्य चेतना में प्रकृति के साथ मनुष्य के टूटते-छीजते संबंधों को लगातार पुरजोर तरीके में उठाया गया है। समकालीन मनुष्य के जीवन की यांत्रिकता ने उसके रिश्तों के लचीलेपन को कठोर बना दिया है जिससे जीवन भयावह होता जा रहा है। प्रकृति से मनुष्य का अलगाव अब जीवन में स्पष्ट नजर आने लगा है। 'यूज एण्ड थ्रो' जीवन की संस्कृति ने जीवन और रिश्तों को भी अपने में समेट लिया है, नतीजतन जीवन को इस संस्कृति ने भीड़ में अकेला कर दिया है,

डिप्रेशन, तनाव, अकेलापन आज आत्महत्या का कारण बन रहे हैं। भारतीय संस्कृति जो कभी वसुधैव कुटुम्बकम का दम भरती थी, आज पश्चिम के भोगवादी यांत्रिक जीवन की अनुगामी हो गयी है और भारतीय संस्कृति दूर कहीं पीछे छूट गयी है। जहाँ से हम अब लौट नहीं सकते, हम इतने दूर निकल आये हैं कि वापसी के सारे रास्ते समाप्त हो चुके हैं। पहले हमारे घरों का, जीवन की जरूरतों का सामान बदला, जरूरतें बदली, फिर पता ही नहीं चला कब हम और हमारे रिश्तों की गर्माहट भी जाती रही। श्यामसुन्दर दुबे के काव्य संग्रह 'पृथ्वी का प्रथम स्नान' भी कविताओं में बड़ी जिम्मेदारी के साथ प्रकृति और मनुष्य के संबंध को पुनः परिभाषित किया गया है। 'झीनी-झीनी बीनी चदरिया' कविता में 'कबीर' को पूरी जिम्मेदारी के साथ कविता में स्मरण किया गया है तथा यहाँ कविता में देह के मध्यकालीन निष्कर्ष के साथ आधुनिक जीवन के तनाव को सार्थकता और सावधानी से व्यक्त किया गया है। जैसे–

तुम देह को छुओ, अपनी ही देह को
कभी परायी देह की तरह, तो देह लगेगी एक ओढ़ी हुई चादर।

देह की जिस चादर को मध्यकाल में 'कबीर' ने ओढ़ना सीखया था और समकालीन कविता के अनेक कवियों ने कबीर की निरगुनियों चादर को अपने-अपने काव्य कौशल और काव्य-प्रतिभा से कविता में जगह दी है। इस अर्थ में श्यामसुन्दर दुबे झीनी-झीनी बीनी चदरिया' कविता के कथ्य और शिल्प दोनों स्तर पर समकालीन कविता में अपने दम पर शामिल होते हैं और भाषा, शब्द तथा काव्य लक्ष्य सभी स्तर पर सफल भी। देह की सुगंध, घृणा और नश्वरता सभी स्तर पर कवि प्राचीन और आधुनिक काव्य प्रतीकों का सार्थक प्रयोग करने में सफल हुआ है। देह और जीवन के परत-दर-परत यहाँ रिश्ते को फिर से जोड़ने की मानवीय कोशिश की गई है। देह के अनेक रंगों के उजास को कविता में जीवन के लिए जरूरी प्यास के रूप में व्यक्त किया गया है।

'प्रेम' उपखण्ड में प्रेम के वैश्विक स्वरूप को प्रकृति साथ पृथ्वी के मूल स्वभाव में दर्शाया गया है। प्रेम के बिना पृथ्वी संभव नहीं है, नक्षत्र संभव नहीं हैं, सूरज, चाँद, तारे, और सबसे महत्वपूर्ण जीवन संभव नहीं हो सकता। प्रेम को 'सूफी' भक्ति में तब भी संभव माना गया है, जब इस ब्रह्माण्ड में कुछ नहीं था तब भी प्रेम था। प्रेम ईश्वर का रूप है, उसकी वास्तविक मौजूदगी है। यहाँ भी कविता में उसी प्रेम को नये अर्थ में विन्यस्त किया गया है, जहाँ समकालीन जीवन लगातार प्रेम से बाहर कृत्रिमता में कैद होने को है। शारीरिक सुख के आगे आज प्रेम को भी निराश, उदास और हारा हुआ देखा जा सकता है। प्रेम के परम्परागत स्वरूप और अर्थ को कविता में नये अर्थ के साथ विस्तार दिया गया है। इस उपखण्ड की 'एक मात्र आदिम प्यास' 'ज्यों-ज्यों डूबे श्याम रंग', 'अगर कहीं पर मिले तुम्हें वह', इस सूचना भरे समय में, आदि कविताओं में प्रेम के भारतीय भाषाई प्रतीकों को नये अर्थ और नयी सार्थकता से व्यक्त किया गया है। प्रेम कम क्यों होता जा रहा है?जबकि प्रेम की सारी दूरियों को यांत्रिकता ने आज खत्म कर दिया हैं, सारी दुनिया के लोग हमारी मुट्ठी में हैं, अब मध्यकालीन गोपियों के लिए किसी ऊधो के संदेश वाहक की जरूरत नहीं। सूचना और इन्टरनेट के 'फ्री टू एयर' ने सारी दुनिया जेब में ला दी है। पर फिर भी प्रेम लगातार घट रहा है, रिश्ते मर रहे हैं, ऐसा क्यों? ऐसा

इसलिए कि प्रेम किसी यंत्र की जद में नहीं, मानवीयता और प्रेम किसी यंत्र से सुलभ नहीं हो सकते, इसे भाव, हृदय और अनुभूति से पाया जा सकता है। प्रेम आज भी एक अबूझ पहेली है, जिसे 'सूफियों' के अलावा कोई सुलझा नहीं पाया। 'इश्क हकीकी और इश्क मिजाजी' को सूफी संतों ने त्याग तपस्या से हासिल किया। आज यांत्रिकता से भरे मानव जीवन के पास चितंन, मनन का कोई समय ही नहीं है। सब उसके पास हैं, वह सबके पास है फिर कैसी जरूरत और किसी जरूरत। कभी ईश्वर के अंत की घोषणा की गई थी, पर वह कितनी सच थी, क्योंकि जो था ही नहीं उसके मरने की घोषणा कैसी, पर प्रेम था और सूचना क्रांति के हमलों से मानव जीवन के भीतर प्रेम की मौत हो गयी है, जीवन की कभी ना खत्म होने वाली रेस में दौड़ रही मानव सभ्यता के हाथ से मानवीयता के सारे औजार एक-एक कर छूटते जा रहे हैं और अब प्रेम भी हमारे जीवन से इस तकनीकि क्रांति ने छीन लिया है। अब हमारा कोई नहीं, हमें किसी से प्रेम नहीं, हमें सिर्फ भूख है, भूख की जरूरत को यांत्रिकता प्रेम के नाम से परोस रही है।

संग्रह की 'इस सूचना भरे समय में' शीर्षक कविता में आधुनिक जीवन की सार्थक चिंता की गई है। यह कविता कम हमारे समय के मनुष्य की ग्लोबल व्याख्या है। यहाँ उल्लेखनीय है कि तकनीकि और सूचना क्रांति के उपकरणों ने एक बड़ा साहित्यिक काम कर दिया है कि विश्व की सभी भाषाओं में साहित्यिक समय अब एक साथ बदलने लगा। सभी क्षेत्रीय संस्कृतियों, सभ्यताओं और भाषा के ऊपर एक ग्लोबल संस्कृति पनप चुकी है जिसके सरोकार क्षेत्र, भाषा और भूगोल के दायरों के पार एक जैसे हैं। ग्लोबल सिनेमा, ग्लोबल न्यूज, ग्लोबल सूचनाएँ, ग्लोबल सेक्स, ग्लोबल अपराध, ग्लोबल आतंक सब क्षेत्र और भाषाओं की तहों के पार हैं। हमारा समय ग्लोबल संस्कृति में सांस लेने, जीने की मजबूरी का समय है। और यदि उत्तर कोरिया, दक्षिण कोरिया, या भारत पाकिस्तान से युद्ध हुआ तो तीसरा विश्व युद्ध इन्हीं दोनों कारणों से होगा। तीसरे विश्वयुद्ध में क्या होगा पृथ्वी पर जीवन बचेगा की नहीं, यह सब समय बतायेगा पर इतना तय है कि तीसरे विश्वयुद्ध में परमाणु बमों, मिसाइलों के इस्तेमाल से समूची मानव को अपने अस्तित्व के संकट से सामना करना पड़ेगा। कविता संग्रह के द्वितीय खण्ड दृश्य परिदृश्य खण्ड की कविताओं में जीवन, मौत, भीड़, नदी, कुंभ के साथ 'इस शहर में एक प्याउ थी' जैसी कविताओं का संग्रह है, जो हमें हमारी मानवीय स्मृतियों की ओर वापसी का विनम्र आग्रह करती हैं। सूरज मछुआरा, कविता के लिए थोड़ी सी जगह, बरसात में किला, शहर, पेड़ की हुरमत, फोटू बचे रहेंगे, आँख में हिलगा आँसू, पूरा घर कविता, बसंत आया, अग्नि संस्कार, ऋतु कृपा, भारत भवन को देखते हुए शहर में ट्रेक्टर, इच्छा मृत्यु के विरुद्ध आदि संग्रह के दूसरे खण्ड की कविताओं में जीवन से बेदखल हो चुके और लगातार बेदखल हो रहे जीवन की स्मृतियों, घटनाओं और लोगों की कविता में, जीवन में, वापसी के लिए खोली गई खिड़कियाँ हैं। जिनसे होकर हमसे हमारी बहुमूल्य धरोहर को हमारे जीवन से छूटते-बिखरते हुए देखा जा सकता है।

असिस्टेण्ट प्रोफेसर
हिन्दी विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

रचनात्मक चिंतन की सूफी ज़मीन

– आशुतोष

किसी भी कलारूप की सार्थकता सौन्दर्य की उपलब्धि में है। कलाजनित सौन्दर्य को परिभाषित करते हुए, निकोलाई गाव्रिलोविच चेर्नीशेव्स्की ने कहा है कि ''मानव के लिए सुन्दर वही वस्तु है, जिसमें वह जीवन को, जिस रूप में कि वह उसे समझता है, देखता है। सुन्दर वह वस्तु होती है, जो उसे जीवन की याद दिलाती है।''[1] लीलाधर मंडलोई हमारे समय के महत्त्वपूर्ण कवि हैं। कविताओं को लेकर वे स्पष्ट हैं। कविता और अपनी संपादकीय टिप्पणियों को लेकर हमेशा वे चर्चा में रहते हैं। किन्तु एक बड़े सरोकारों वाला रचनाकार की चिन्ताएँ अलग-अलग विधाओं में प्रकट होती रहती हैं। उसका एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण है, मंडलोई जी की तिथिहीन डायरी 'दिनन दिनन के फेर'। डायरी में छः शीर्षकों में कई तिथि हीन टिप्पणियाँ दर्ज हैं। कवि का डार्करूम, सूर्य के हमजोली, पेड़ और पक्षी, मां और पास-पड़ोस, लोग दुनिया में और यमुना के पुलिन पर जैसे शीर्षकों के अन्तर्गत लगभग 74 टिप्पणियाँ हमारे समय और समाज को बिल्कुल भिन्न तरह से दर्ज करती हैं।

'दिनन दिनन के फेर' और कुछ नहीं मंडलोई की कविता में खाली पड़ी जगहें हैं। जिसको मंडलोई जी ने पूरी रचनात्मक औदात्य दिया है। मंडलोई जी की यह कोशिश डायरी के पारम्परिक शिल्प में बहुत कुछ इजाफा करती है। बल्कि कहें कि इसमें मंडलोई जी का कविता, आलोचना, डायरी में न अटने वाला मन समाया हुआ है। एक तरह की गद्य कविता। एक तरह की कोमल और अधीर प्रार्थना। वही प्रार्थना जो जिसे हमारी दुनिया का आखिरी आदमी अपने सबसे मुश्किल क्षणों में पुरी आत्मीयता और आस्था के साथ करता है। उसी प्रार्थना को मंडलोई जी आत्म-राग में गोहरा रहे हैं।

किताब की पहली ही टिप्पणी 'पुरखों से नाता' में कहते हैं कि ''हर कवि का डार्करूम होता है। अपने विचारों की जीन कसे। जिसे वह अकसर भूल जाता है कि बाहर के इतने दबाव। इतने सालों में ठक-ठक की आवाज सुनाई पड़ी।''[2] लेखक अपने उस डार्करूम में झाँकता है और पाता है कि उसमें ''मां की लोरियाँ हैं कहावतें और सुक्तियाँ। बुजुर्गों की सीखें और नसीहतें भी और उनके संघर्ष की इबारतें जिन्हें भुलाने का चलन इधर आम।''[3]

भाषा का उत्सव है ये। आत्मा का आत्मविश्वास है। मंडलोई जी जिस सजगता से भाषा को बरतते हैं, उस तरह क्या कोई श्लोक, मंत्र या ऋचा उठाता होगा। भाषा का यह हासिल उनके कवि की

सिद्धि है। यह पूरी जिल्द राग और रोशनी की धागे से बुनी गयी है। इसी लिए मंडलोई जी 'पढ़ने के लिए चाहिए गरीब की आत्मा' शीर्षक में पहले ही आगाह कर देते हैं कि--

''इस गद्य को पढ़ो यह अलिखा है
लेकिन खिला
इसके भीतर खुलने से जो छूटा है उसे अवकाश में पढ़ो
रोशनाई यहां गुप्तलिपि है
जो यहां है वही है मेरा लिखा हुआ
और उसे पढ़ने के लिए चाहिए एक ग़रीब की आत्मा
जिसे लिखते हैं वही लेखक
जिन्हें लेखक की तरह नहीं जानते लोग
क्या आप मुझे जानते हैं?''[4]

मंडलोई जी का यह प्रश्न कि 'क्या आप मुझे जानते हैं,' बड़ा मौजूं है। जाहिर है कि 'दिनन दिनन के फेर' के इस लेखक का यह अंदाज निराला है, अब तक के जाने-पहचाने मंडलोई जी से तो अलग ही है यह छवि। क्योंकि 'दिनन दिनन के फेर' में अब तक की अनसुनी मगर बहुत बुनियादी आवाजें हैं। जिनसे रचनाकार का जातीय जुड़ाव है। इसलिए मंडलोई जी उन्हें आवाज देते हैं -- ''मैं पुकारता हूँ वनस्पतियों को। नदियों, पहाड़ों को पुकारता हूँ। मैं धरती को पुकारता हूँ और आसमान को। मैं कुए-तालाबों को पुकारता हूँ और समुद्र को।... खतरों की ज़द में हैं जो भी, उनके लिए मैं पुकारता हूँ।''[5] इन पंक्तियों में मंडलोई की रचनाशीलता के निहितार्थ खुलते हैं। एक लेखक, एक रचनाकार अपनी रचनाओं के मारिफत क्या चाहता है? इस प्रश्न का जबाब मंडलोई अपनी रचनाशीलता से देते हैं। आज जब 'क्रोनिक कैपटिलिज्म' और 'कम्यूनल पोलिटिक्स' का गठजोड़ हो चुका है, मुक्त बाजार व्यवस्था और उदारवादी लोकतंत्र को ही मनुष्यता के समक्ष आखिरी विकल्प के तौर पर पेश किया जा रहा है। ऐसे में पूंजीवादी सत्ताओं और उनकी अनुषंगी सरकारों द्वारा प्रायोजित विकास की आंधी में वनस्पतियाँ, नदियाँ, पहाड़, धरती, आसमान, कुँआ, तालाब, सुमुद्र इन सबका लगातार दोहन हो रहा है। ये सब खतरे की ज़द में हैं, किन्तु अकेले नहीं हैं इनके साथ हमारा रचनाकार खड़ा है। एक श्रेष्ठ रचनाकार से यही उम्मीद भी की जाती है कि वह उनके पक्ष में खड़ा रहे जो अकेले पड़ गए हैं। इस मायने में मंडलोई हमें आश्वस्त करते हैं यह कहते हुए कि 'ख़तरों की ज़द में हैं जो भी, उनके लिए पुकारता हूँ।'

इसी तरह वे 'कविता और कविमन' शीर्षक में कहते हैं कि ''मैं अपनी कविता की तरह/अधूरा हूँ। अन्तिम पंक्तियों पर/बिखर गयी स्याही/मैं अपना पूरा होना/खोजता रहता हूँ/दरअसल कविता में अधूरेपन के अहसास ने ही मुझे अब तक लिखने में जिन्दा रखा है।''[6] यही रचनाकार का प्रदेय है। उसने अधूरेपन को भी इतने सकारात्मक पद में तब्दील कर दिया है। यह अधूरापन ही रचना-प्रक्रिया की साधनावस्था है, जिसको मंडलोई जी बड़े शाइस्तगी से उठाते हैं। क्योंकि वे साधक कवि हैं, सिद्ध

नहीं। वैसे भी उन्होंने सिद्ध होना चाहा कब था। रचना की इसी साधनावस्था में उन्होंने यह अर्जित किया कि --

''शब्द वरदान हैं
यदि शब्दों को वापरने में हुई भूल
वे तबाही मचा सकते हैं।''[7]

लीलाधर मंडलोई के यहाँ यथार्थ की बिल्कुल अलहदा छवि है। वे यथार्थ को कोश से नहीं उसकी अपनी जमीन से पहचानते हैं। वे कहते हैं कि ''मैं मानता हूँ कि हमें सात समुन्दर पार की उड़ान तब भरनी चाहिए, जब हम अपनी धरती के यथार्थ को अपनी समझ भर जान लें।''[8] समकालीन रचनाशीलता में यथार्थ को लेकर कमोवेश यहीं चूक की है। उसने यथार्थ को स्थिर इकाई माना है। जबकि बट्रोल्ट ब्रेख्त कहते थे कि 'चूंकि यथार्थ मनुष्य निर्मित है, इसलिए वह मनुष्यों द्वारा बदला भी जा सकता है।' मंडलोई जी ने अपनी इस तिथिहीन डायरी की तमाम टिप्पणियों में अपने समय और समाज के उसी बदलने हुए यथार्थ को दर्ज को किया है। उनका यथार्थ बहुआयामी है। वह जितना सामाजिक है उतना ही रचनात्मक भी। इसीलिए मंडलोई जी अपनी रचनात्मकता के उद्देश्यों को लेकर भी बहुत स्पष्ट हैं। उनके यहाँ श्रेष्ठ रचना का आशय उसकी सामाजिक भूमिका से है। वे कहते हैं कि ''अगर मेरी कविता में दुख है। और सबका नहीं। मेरे लिखे को आग लगे।''[9] अपनी स्वयं की कविता के लिए यह निर्ममता अद्वितीय है। कविता वही श्रेष्ठ है, जिसमें एक का दुःख-सुख सबका दुःख-सुख बन जाय। यदि ऐसा नहीं है तो 'आग लगे उस लिखे को।' यह कहने के लिए एक अविस्मरणीय साहस की दरकार है। कहना न होगा कि एक रचनाकार में यह साहस साक्षी होने की विनम्र भूमिका से पैदा होता है न कि कर्त्तापन के अहंकार में। यह रचनाकर्म का सत्य है। चेर्नीशेव्स्की कहते थे कि 'सत्य बुद्धिकी उपज नहीं है, वह जीवन की वास्तविकता की देन है।' मंडलोई जी इस सत्य तक पहुँच चुके हैं तो उसका कारण भी बुद्धि नहीं वास्तविकता से रूबरू होता दिल ही है।

मंडलोई जी का अनुभव संसार बड़ा है। वे अपने उस अनुभव संसार के यायावर नहीं नागरिक हैं। उन्होंने अपने उस संसार को अर्जित किया है, पाया नहीं है। इसलिए उनके लहजे में कशिश है और उनकी गुफ्तगू में साफगोई। उनके यहाँ सतपुड़ा के घने जंगल हैं, बड़ा महादेव हैं, पहाड़ हैं, नदियाँ हैं और इन्हीं जैसे सीधे-सादे लोग भी हैं। अपने इस विशेष फितरत के निर्माण के लिए वे नर्मदा नदी के आभारी हैं। वे कहते हैं कि ''मेरा स्वभाव कुछ अलग है। मैं उस दिशा में नहीं भागता जिधर सब। मैं नर्मदा इलाके का हूँ। पूर्वज इसी तट पर जिये। यात्राएँ कीं। उन्होंने सरल मार्ग कभी न चुना।... उनकी गति तेज थी या मन्थर। उसमें चलने का भाव था। स्वभाव के विरुद्ध। वे कहते थे 'नर्मदा माई' भी ऐसी ही हैं। दूसरी नदियाँ पूर्व की ओर बहती हैं तो यह पश्चिम की तरफ़। वह बैगा, गोंड, और भील जैसे संघर्षशील आदिवासियों की माँ हैं। वह स्वभाव में चंचल हैं और उग्र भी। वह गहरी खाईयों खड्डों में कुदती हैं। चट्टानों को तोड़ती हैं। वनों में दौड़ लगाती है, तो कहीं मस्त मन्थर चाल अपना लेती है। कहीं-कहीं दुःख में सूखकर काँटा हो जाती है। पर शक्ति भर चलती रहती है, हर प्रत्याशा के बरक्स अप्रत्याशित जीने के उदाहरणों की कविता है नर्मदा। अगले क्षण कहाँ कौन सी रचना करेगी, नहीं

जानती है। पर वह नया होता है। नर्मदा अपने में रोज नया होने होने को साबित करती है।... क्या मैं नर्मदा का पुत्र, ऐसा हो सकता हूँ अपने स्वभाव और संकल्प में।''[10]

अब यहाँ यह अलग से कहने की आवश्यकता नहीं हैं कि मंडलोई जी की समस्त रचनात्मकता नदी हो जाने की एक महान अभिलाषा ही है। उनकी इस अभिलाषा में सबके लिए जगह है। वे पेड़, पहाड़, झरने, प्रकृति सबकुछ को दर्ज करते चलते हैं। उनके यहाँ सेमल की एक बेहद आत्मीय और उजली स्मृति है, फलों का राजा आम अपने पूरे कुनबे के साथ गरीबों के जीवन में मिठास घोल रहा है, प्रकृति की उदारता का अनुपम देन बेर है, बचपन की मीठी याद बनकर सीताफल उर्फ शरीफा है तो कभी न भूल पाने वाली इमली भी है। मंडलोई जी इन तमाम फलों को इनके अपने प्राकृतिक गुणों के कारण तो याद करते ही हैं, साथ ही इनको याद करने का एक नितान्त मार्मिक कारण भी है कि ''जंगल में आम, जामुन, महुआ, अमरूद, बेर, बेल, आँवला, गूलर, इमली, कठहल, रेठू, सहजन, नीम, बरगद आदि थे। इन्हीं पेड़ों के फलों ने ग़रीबी में साथ दिया।''[11]

मंडलोई जी की जीवन यात्रा एक साहसिक यात्रा है। 'गरबीली गरीबी' से उन्होंने नजर पायी, संघर्षों से पाया ज़िद। पुराने भोपाल से शिरी ज़ुबान पायी तो यारों से पाया विश्वास। नर्मदा ने धारा के उलट चलने का साहस दिया तो सतपुड़ा ने दिया सधुक्कड़ी मिज़ाज। आम, ईमली, बेर, कटहल जैसे देशज बन्धुओं से धैर्य पाया तो पक्षियों से सीखा उड़ान। मंडलोई जी का अन्तस कृतज्ञता के भावों से रचा-बसा है। इसलिए वे अवसर पाते ही अपने होने के समस्त उपादानों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं। 'दिनन दिनन का फेर' एक तरह से उनका कृतज्ञता ज्ञापन ही तो है। वे 'टूटते पंख और मंजिल' में कहते हैं कि ''यह मेरी कंजूसी है। कोई दबाब भीतरी-बाहरी, कहना मुश्किल। लेकिन मुश्किलों का जबाब भीतरी सतहों में है जिस तक पहुँचना कठिन। हम अपना भीतर कब पूरा कब खोल पाते हैं—शायद कभी नहीं। कितने नसीब के साथ पैदा हुए कौवे और रॉबिन भरपूर उर्जा के बावजूद प्रारम्भिक दशा में अन्धे होते हैं। शक्तिहीन भी। सो दायित्व माँओं का। उनके बल पर ही वे अनेक तरह से मनुष्यत्व के उदाहरण। वे आदिम मूल्यों के पक्ष में व आधुनिक सन्दर्भ को बिसराये बिना एक संसार को देख पा रहे हैं जो हमारे वास्ते कठिन...। अध्ययन के अनुसार पक्षी 8000 मीटर चोटियों को पारकर कई हज़ार मील की यात्रा करते हैं। रास्ते के गर्मी, बारिश, आंधी-तुफान के बीच और यात्रा स्थगित नहीं करते। पंख दुखते हैं। उनके हिस्से टूटते भी हैं, पर यात्रा से अधिक वे अपनी मंजिल पर पहुँचकर ही एक शब्द, एक वाक्य या दो-तीन वाक्य उचारते हैं। रास्ते में शत्रु हैं। प्रतिकूल मौसम है। और वे उदाहरण हैं, अकल्पनीय यात्राओं के। वे मंजिल पर पहुँचना जानते हैं।''[12] यहाँ देखा जा सकता है कि मंडलोई जी के लिए वरेण्य क्या है। उनकी निगाह में वे पक्षी हैं, जो प्रतिकुल परिस्थितियों यात्राएँ करते हैं। थकते हैं मगर मंजिल पर पहुँचने से पहले हारते नहीं। क्या इस तरह की यात्रा की उम्मीद हम एक रचनाकार से नहीं कर सकते। क्या यह यात्रा एक कवि की यात्रा नहीं है? क्या ऐसी ही यात्रा स्वयं मंडलोई जी की नहीं रही है? जीवन का भी और सृजन का भी।

मंडलोई जी सबकुछ को याद रखते हैं। बातें तो वे भूलती हैं, जिन्हें हम भूलना चाहते हैं। हमारी भाषा का यह आदिवासी लेखक अपने होने की बुनियाद को अपनी आँख की कोर में बसाये हुए

है। अपने जीवन के उन बावले दिनों को याद करते हुए, मंडलोई जी कहते हैं-- ''माँ का सोचना बहुत हतप्रभ करता था। मैंने पूछा कि बाबा बार-बार एक ही पद दोहराते थे-- कितनो बुरो समैया आओ, भटा-भात भी खा नैं पाओ, माँ ने कहा--हाँ। समय बहुत बुरा है। कोई बात नहीं। लो मैंने इसे आटे की लोई में गूंथ लिया, अब देखो इसका बुरा हिस्सा बन्द हो गया। अब जब लोई रोटी बनकर फूलेंगी और तुम खाओगे तो बुरा समय तुम्हारे भीतर उतरकर खो जाएगा। और तुम बुरे समय को हरा दोगे। मैंने और लोगों की तरह शायद यही किया और अब भी कर रहा हूँ। माँ संकोच के साथ कह रहा हूँ वह रोटी नहीं तुम ही थीं, जो मेरे भीतर बुरे समय को पछाड़ रही थी।''[13] हिन्दी में माँ को लेकर श्रेष्ठ कविताएँ लिखी गयीं हैं और पिता पर श्रेष्ठ कहानियाँ। किन्तु मंडलोई जी द्वारा माँ पर लिखी यह टिप्पणी महावाक्य की तरह है। माँ पर लिखते समय भावुक या 'नास्टेलजिक' होने की पूरी संभावना रहती है। किन्तु मंडलोई जी ऐसे प्रसंगों में भी 'नास्टेलजिक' नहीं होते बल्कि दुःख को भी ताकत बना लेते हैं। चर्चित शायर मुनव्वर राणा अपने एक शेर में कहते हैं कि मां के सामने रोना नहीं चाहिए क्योंकि 'जहाँ बुनियाद हो वहाँ नमी अच्छी नहीं होती।' मंडलोई जी माँ के साथ ही जीजी को भी याद करते हुए कहते हैं कि ''मेरी जीजी एक रोज उड़ने की इच्छा के बगैर, उड़ी और जा बैठी पराये आँगन में।''[14] माँ और जीजी पर लिखी इन टिप्पणियों में भारतीय पितृसत्तात्मक समाज व्यवस्था में औरत मात्र की जिन्दगी का दर्द दर्ज हैं। वे स्त्री होने को जानते और मानते हैं। वे स्वीकार करते हैं कि ''मैं कुछ नहीं कहता। एक शब्द नहीं। तिस पर वो पढ़ लेती है मन का कहा सब। प्रेम तो बिना चूक और दुःख के रास्ते बहती पीड़ा। जैसे मुझे नहीं, उसे पता हो मेरा अन्र्तमन। यह कौन-सी भाषा है, भाषा से परे। शब्दातीत। मैं यह सब लिखने में कितना असहाय-असफल। यह उसका प्रेम जानता है। मैं उसे कितना कम जानता हूँ। मैं अन्ततः एक पुरुष हूँ। एक पुरुष होना एक स्त्री होना नहीं।''[15]

इस पूरी ज़िल्द में आत्मा की आहटे हैं। जिन तक पहुँचने के लिए केवल भाषा से दोस्ती नहीं बल्कि मन का उजास भी चाहिए। यह अब तक का गैर पारम्परिक लेखन है। मंडलोई जी ने इसे तिथिहीन डायरी कहा है। किन्तु यह हिन्दी में अब तक हासिल की गयी विधाओं की संरचना में न समाने वाला बिल्कुल नई सी बात है। डायरी, कविता, कहानी, उपन्यास, निबन्ध, संस्मरण, रिपोतार्ज आदि विधाओं से भिन्न उनकी ही सरहद पर उगता हुआ सृजन का एक नया देश है। भाषा की साफगोई और हिन्दुस्तानी जुबान की ठाठ ने इसे किसी सूफी कलाम सी दौलत बक्शी है। जिसके दम पर 'दिनन दिनन के फेर' में दर्ज टिप्पणियाँ गद्य की शुष्क इबारत से आगे बढ़कर कहीं द्रुत तो कहीं विलम्बित अलाप की उँचाई हासिल कर ली हैं। जिन्हें पढ़ना गरीबी की आँच में तपाये हुए सुख को अंकवार भर भेंटना है।

असिस्टेण्ट प्रोफेसर
हिन्दी विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

सन्दर्भ -

1. *दर्शन साहित्य ओर आलोचना, अनुवाद नरोत्तम नागर, परिकलपना प्रकाशन, लखनऊ, 2002, पृ. 173*
2. *मंडलोई लीलाधर, दिनन दिनन के फेर, साहितय भंडार, इलाहाबाद, 2015, पृ. 13*
3. *वही, पृ.13*
4. *वही, पृ. आमुख*
5. *वही, पृ.15*
6. *वही, पृ.16*
7. *वही, पृ.16*
8. *वही, पृ.17*
9. *वही, पृ.18*
10. *वही, पृ.48*
11. *वही, पृ.61*
12. *वही, पृ.75*
13. *वही, पृ.79*
14. *वही, पृ.89*
15. *वही, पृ.116*

हिन्दी में स्त्री-लेखन के मायने

– हिमांशु यादव

आज के दौर में जीवन जीना बहुत ही चुनौतीपूर्ण है। हम यह रोज महसूस कर सकते हैं कि यथार्थपूर्ण ढंग से जी पाना कितना मुश्किल काम है। एक तरफ बाजारवाद और भूमण्डलीकरण की चुनौतियाँ हैं, जिनके आधार में पूँजीवाद है, तो दूसरी तरफ सामाजिक-सांस्कृतिक चुनौतियाँ हैं, जिनके आधार में धर्म और शास्त्र हैं। बाजारवाद, उपभोक्तावाद, भूमंडलीकरण, धर्म और शास्त्र के मिले-जुले तंत्र ने मनुष्य को अमानवीय बना दिया है। इस अमानवीयता की सबसे अधिक मार दलित, स्त्री और आदिवासी समाज को झेलनी पड़ रही है। स्त्री और दलित की जमीन लगभग समान है क्योंकि दोनों ही शोषित और दमित हैं। जहाँ दलित का इश्यू (मुद्दा) जाति का है, वहीं स्त्री का मुद्दा 'जेंडर ऑफ सेक्स' है। एक तरह से कहें तो दलित का मुद्दा समाज का है तथा स्त्री का मुद्दा घर से समाज तक का है। दोनों अमानवीयता की स्थिति में जीने को अभिशप्त हैं। आदिवासी अपनी ही जमीन से विस्थापित हैं। ऐसे में दलित, स्त्री और आदिवासी लेखन की आवश्यकता को महसूस किया जा सकता है। कहना न होगा कि इसमें स्त्री की पीड़ा सर्वाधिक है क्योंकि उसकी लड़ाई घर से समाज तक सर्वत्र फैली हुई है। स्त्री के सामने 'अस्मत और अस्मिता' दोनों का संकट है।

समाज के दो महत्वपूर्ण ध्रुव स्त्री और पुरुष हैं, जिनके इर्द-गिर्द समाज की सारी गतिविधियाँ संचालित होती हैं। स्त्री, किसी भी परिवार की महत्त्वपूर्ण इकाई है क्योंकि परिवार से समाज तक के सफर में उसकी बेहद जरूरी भूमिका है। बिडम्बना यह है कि इस सफर में परिवार और समाज के शीर्ष पर पुरुष विद्यमान है और वर्चस्व स्थापित किये हुए है तथा स्त्री हाशिये का जीवन जीने को अभिशप्त है। ''किसी भी समाज व उसके समय की वास्तविक स्थिति जाननी हो तो उसमें स्त्री की स्थिति पर विचार करना प्रासंगिक होगा, दलित और नारी प्रश्न आज ज्वलंत विषय हैं। इनकी समस्त प्रश्नाकुलतायें मनुष्य को और अधिक मनुष्य और मानवीय बनाने के प्रयत्न हैं।''[1] पर भारतीय साहित्य में स्त्री को जिस आचार-संहिता में बाँधने की बात कही जाती रही है, वहाँ स्त्री कैद होकर रह गई हैं। पिंजरे में बन्द इस जीवन से छुटकारा पाना उसके लिए बड़ा मुश्किल काम है। पितृसत्ता ने स्त्री को घर के भीतर कैद कर रखा है तथा बाजार और पूँजीवादी व्यवस्था ने बाहर। वह केवल वस्तु ही नहीं समझी जाती बल्कि वस्तु बेचने का माध्यम भी है। ''भारतीय समाज में शुचिता की ग्रन्थि ही औरत को मनुष्य

की श्रेणी से वंचित कर वस्तु में बदल देती है।''[2] स्त्री को घर से बाहर तक हर जगह कठिनाई और चुनौती का सामना करना पड़ता है और उसे स्वतंत्रता, शिक्षा, निर्णय एवं समानता से वंचित करने का प्रयास भी पितृसत्ता द्वारा किया जाता है। फिर भी पितृसत्ता और पुरुष-वर्चस्व, धर्मसत्ता और शास्त्र के कड़े विधान, बाजार और पूँजीवाद के दबाव एवं उपभोक्तावादी संस्कृति के बीच फँसी स्त्री अपनी मुक्ति के लिए निरन्तर प्रयासरत है। इस प्रयास में स्त्री का सबसे बड़ा हथियार है लेखन अर्थात स्त्री लेखन।

बीसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध समाज और साहित्य में स्त्री प्रश्न की दृष्टि से बेहद महत्त्वपूर्ण है। यह वही समय है जब तमाम पारिवारिक और सामाजिक तिरस्कार के बावजूद स्त्री लेखिकाओं ने इतिहास में अपने-आप को स्थापित किया।

सवाल यह है कि स्त्री-लेखन जरूरी क्यों है, जब बहुत से आलोचकों ने इसे 'गुड्डे-गुड़ियों का खेल' तक कहा है। क्या स्त्री लेखिकायें अपने अनुभवों, द्वन्द्वों, संघर्षों और यथार्थ को पूरे साहस से व्यक्त कर सकी हैं? क्या उनका लेखन पितृसत्तात्मक स्त्री विरोधी नियमों एवं कानूनों की धज्जियाँ उड़ा सका है? क्या स्त्रियाँ उस पितृसत्तात्मक भाषायी मुहावरे को ध्वस्त कर अपनी नई भाषा गढ़ सकी हैं, जिससे वे आज भी निरंतर पिस रही हैं। कहना न होगा कि स्त्री-लेखन ने निश्चित रूप से कुछ ऐसे तीखे, ज्वलंत अन्तर्विरोधों, विरोधाभासों और प्रश्नों को सामने रखा है, जिससे स्त्री-लेखन की एक अलग पहचान बननी शुरू हो गयी है। वर्तमान समय में स्त्री-लेखिकाओं की एक लम्बी सूची हमारे सामने मौजूद दिखाई देती है, जबकि आजादी के पहले यह स्त्री-लेखन कमजोर अवस्था में था। आजादी के बाद जब नयी आर्थिक संरचना ने सामाजिक ढाँचे को बदलने का कार्य किया, तब उस समय से अनेक स्त्री लेखिकाओं का आगमन हिन्दी साहित्य में होता है। दुर्गेश नन्दिनी, रजनी पाणिकर, कृष्णा सोबती, शिवानी, सूर्यबाला, राजी सेठ, नमिता सिंह, मंजुल भगत, मन्नू भंडारी, मृदुला गर्ग, महाश्वेता देवी, चित्रा मुद्‌गल, उषा प्रियंवदा, मैत्रेयी पुष्पा, ममता कालिया, शशिप्रभा, कृष्णा अग्निहोत्री, मणिका मोहिनी, दीप्ति खंडेलवाल, सुनीता जैन, प्रभा खेतान, अनामिका, कौशल्या, बैसंत्री, मृणाल पाण्डेय, नासिरा शर्मा, मेहरून्निसा परवेज, सोमावीरा, अलका सरावगी, जया जादवानी, रोज केरकट्‌टा, वंदना टेटे, नीलाक्षी सिंह इत्यादि नाम गिनाये जा सकते हैं, जिनकी रचनाओं से स्त्री-लेखन की अलग पहचान सामने आई है।

आजादी के बाद स्त्री-लेखन जैसे शब्द प्रचलन में आये, जिनके खास अर्थ थे। आजादी के बाद उपजी परिस्थितियों में ऐसा माना गया कि अब तक (आजादी के पहले) पुरुषों के द्वारा स्त्रियों की संवेदना व्यक्त की गई है, पर अब समय आ गया है कि स्वयं स्त्रियों के द्वारा स्त्रियों की संवेदना को व्यक्त किया जाये। ऐसा माना जाता है कि हिन्दी साहित्य पर 'सिमोन द बोवुआर' की पुस्तक 'द सेकंड सेक्स' का अत्यधिक प्रभाव पड़ा। मशहूर लेखिका प्रभा खेतान के द्वारा इसका अनुवाद 'स्त्री उपेक्षिता' के नाम से किया गया। इस पुस्तक में औरत की आर्थिक स्वतंत्रता की बात की गई और यह भी कहा गया कि ''औरत पैदा नहीं होती है, बल्कि बनायी जाती है।'' इसी से प्रेरित होकर आधुनिक

लेखिकायें स्त्री के प्रति समाज की मानसिकता व रूढ़ियों पर आधारित पारिवारिक बंधनों से मुक्ति की आकांक्षा में प्रयत्नशील नजर आती हैं। हिन्दी साहित्य में भक्तिकाल की मीरा और अंडाल से लेकर अब तक की बदली परिस्थितियों में स्त्री-लेखन के क्षेत्र में आमूल-चूल परिवर्तन आया है। भले ही महादेवी वर्मा ने बीसवीं शताब्दी के चौथे दशक में 'शृंखला की कड़ियाँ' नामक भारतीय स्त्री की समस्या का विवेचन करने वाली पुस्तक लिखकर सिद्ध कर दिया था कि वे नारी के संतप्त और अभिशप्त जीवन के प्रति कितनी चिन्तित, ईमानदार और प्रतिबद्ध थीं, पर इसके कुछ स्याह पहलू भी हैं। महादेवी वर्मा उतनी संवेदनशील कवयित्री हों या न हों लेकिन उनका गद्य-साहित्य इतना अनुभूतिपूर्ण, सशक्त, क्रान्तिकारी है, फिर भी उसकी उपलब्धियों पर विचार नहीं किया गया जो एक निर्मम सच्चाई है। ''आजादी से पहले और आज महिला-लेखन के तेवर में निश्चित ही बड़ा फर्क आया है। आजादी से पहले की सुभद्राकुमारी चौहान, महादेवी वर्मा हर सामाजिक रचनात्मक आन्दोलन में बराबरी के स्तर पर शामिल रहीं। अपने समय के सभी जोखिम उठाये, अपने समकालीन रचनाकारों के प्रति उनका सौहार्द्र, जिसका विवरण हम उनके भावपूर्ण संस्मरणों में पढ़ते हैं, एक स्वस्थ परम्परा से ही संभव हो सका। जो दुर्भाग्य से आज नहीं है। आज हम दो-मुँहे मानदण्डों वाले समाज में रहते हैं। चिड़ियों के साथ तो चिड़िया उड़ सकती है, लेकिन चीड़ीमारों के साथ!''[4]

इसके बावजूद आधुनिक स्त्री-लेखन निरन्तर चर्चा के केन्द्र में है। स्त्री लेखिकाओं की सामाजिक जीवन और व्यक्तिगत जीवन से जुड़े प्रश्नों के साथ साहसिक अभिव्यक्ति जहाँ समाज में स्त्री की स्थिति को स्पष्ट करती है, वहीं आने वाली पीढ़ी का मार्ग भी उससे प्रशस्त होता है। वस्तुतः स्त्री लेखन का अर्थ है- वह साहित्य जिसमें स्त्री की दशा-दुर्दशा, दुर्भाग्य, अवमूल्यन का ही चित्रण न हो बल्कि उससे बाहर निकलने का भी दिशानिर्देश हो कि वह इस जकड़न से कैसे मुक्त होगी? यह सही है कि साहित्य कोई सशस्त्र क्रांति नहीं कराता पर वह मनुष्य को स्वतंत्र ढंग से जीने, संघर्ष करने की, आगे बढ़ने की, समस्या को समझने व उससे निपटने की शक्ति देता है और एक नई दृष्टि का संवाहक बनता है। साहित्य में स्त्री लेखन की स्त्रियों के संदर्भ में यही महत्त्वपूर्ण भूमिका है। स्त्री-लेखिकाओं के लेखन के केन्द्र में मूलतः स्त्री की भयावह समस्यायें हैं। पितृसत्तात्मक मर्यादाओं की तीखी आलोचना है, जिसने हमेशा से स्त्री समाज का खुला-दमन किया है। स्त्रियाँ उन अभद्र नियमों के खिलाफ संघर्ष कर रही हैं, जो स्त्री को उपनिवेश बनाते हैं। स्त्री-लेखन 'फार्मूलाबद्ध' लेखन नहीं है और न ही स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों तक सीमित। कविता और कथा-साहित्य में विशेष पहचान बनाने के बाद वर्तमान में आत्मकथा लेखन के क्षेत्र में स्त्रियाँ अपनी साहसिक अभिव्यक्ति के लिए चर्चा में हैं।

आज की लेखिकायें अपने जीवन का समग्र चित्रण बहुत बेबाकी से अपनी आत्मकथाओं में कर रही हैं। शीला झुनझुनवाला की 'कुछ कही कुछ अनकही', मैत्रेयी पुष्पा की 'कस्तूरी कुंडल बसे' और 'गुड़िया भीतर गुड़िया', कुसुम अंसल की 'जो कहा नहीं गया', अमृता प्रीतम की 'रसीदी टिकट', अजीत कौर की 'खाना बदोश', मन्नू भंडारी की 'एक कहानी यह भी', प्रभा खेतान की 'अन्या से अनन्या', कौशल्या बैसंत्री की 'दोहरा अभिशाप', और निर्मला जैन की 'जमाने में हम' इत्यादि

आत्मकथायें साहित्य में अपनी साहसिक अभिव्यक्ति के कारण स्त्री-विमर्श का नया आयाम खड़ा करती हैं कहना न होगा कि हिन्दी साहित्य में स्त्री-लेखन की जिस परम्परा की शुरुआत हुई है, वह वर्तमान समय में अपने उत्कृष्ट रूप में उभरकर सामने आया है। समकालीन परिस्थितियों और लेखन की माँग को देखते हुए अनेक स्त्री लेखिकायें अपने तीखे और जुझारू लेखन के द्वारा स्त्री-लेखन के दरवाजे पर दस्तक दे रही हैं।

लेखन एक बड़ा नैतिक अनुशासन है। स्त्री-लेखन को छोटे खाने में कैद नहीं किया जा सकता। स्त्री रचनाकारों ने वर्तमान समय में साहित्य के माध्यम से जन जागरण की अलख जगायी है। जीवन के हर क्षेत्र में अब स्त्रियाँ सक्रिय हैं और कामयाबी से आगे बढ़ रही हैं। स्त्री-समता की एक नई चेतना भारतीय समाज में व्याप्त हुई है। स्त्री-लेखन की चर्चा अब हर जगह होने लगी है, जो इसके महत्त्व को रेखांकित करती है, फिर भी सदियों से जिस झाड़-झंखाड़ भरे कटीले, ऊबड-खाबड़ रास्ते पर स्त्री दौड़ती चली आ रही है, वह समाप्त नहीं हुआ है। मंजिल अभी दूर है पर नामुमकिन नहीं।

असिस्टेण्ट प्रोफेसर
हिन्दी विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

संदर्भ सूची -

1. *ममता कालिया -- 'संपादकीय' उत्तरप्रदेश - स्त्री-विमर्श विशेषांक, मई 2003*
2. *हंस--(सं.) राजेन्द्र यादव, 'अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य', जनवरी-फरवरी, 2002*
3. *सिमोन द बोवुआर : 'द सेकण्ड सेकस'*
4. *साहित्य वार्षिकी, इंडिया टुडे, गगन गिल, 1996, पृ.20*

निर्मला पुतुल की कवितायें : संवेदना एवं शिल्प

– अरविन्द कुमार

''मैं चाहती हूँ/आँख रहते अन्धे आदमी की/ आँखे बने मेरे शब्द /उनकी जुबान बने/जो जुबान रहते गूँगे बने देख रहे हैं तमाशा/चाहती हूँ मैं/नगाड़े की तरह बजे/मेरे शब्द/और निकल पड़े लोग/अपने-अपने घरों से सड़कों पर।''

निर्मला पुतुल आदिवासी लेखिकाओं में वरिष्ठ व अनुभवी लेखिका के रूप में जानी जाती हैं। वे आदिवासी समाज के हक और हकीकत के साथ-साथ उनकी अस्तित्व, संस्कृति, सभ्यता और भाषा की रक्षा करना अपना महत्वपूर्ण कर्तव्य समझती है। उनकी कविताओं में अनूभूति की अभिव्यक्ति मिलती है। आदिवासी समाज की संवेदना युक्त कविता दृष्टिगत होती है। शिल्प बेजोड़ है। उनकी अपनी भाषा और अपनी संस्कृति की चिंता है। जिसकी छवि उनकी कविताओं में देखी जा सकती है। साहित्यिक पहल पर आधुनिक समय में विमर्शों का दौर सा चल पड़ा है। उसमें आदिवासी साहित्य भी एक है।

आदिवासी समाज की अपनी एक आदिम सभ्यता, संस्कृति रही है। बावजूद इसके यह समाज हमेशा हाशिये पर रहते घोर संकट के दौर से गुजरता रहा। वर्तमान समय में जहाँ दलित विमर्श, स्त्री विमर्श, मुस्लिम विमर्श जैसे मुद्दे साहित्य के केन्द्र में बने हुए हैं, वहीं आदिवासी विमर्श भी साहित्य की दुनिया में अपनी अस्मिता स्थापित कर रहा है। दलित व आदिवासी दोनों ही सर्वहारा वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। दोनों ही समाज से कटे व धार्मिक पाखण्डों, रूढ़ियों व सामाजिक संरचनाओं के शिकार हैं, किन्तु जब देश आजाद हुआ, तब दलित समाज कुछ हद तक मुख्यधारा में मिल गया, किन्तु आदिवासी समाज मुख्यधारा से कटा रहा और चिन्तन तथा लेखन के एक नये रूप में उपस्थित हुआ। आदिवासी साहित्य अपने अस्तित्व और अस्मिताबोध का साहित्य है। यह साहित्य का ऐसा अध्याय है, जिसमें इस समुदाय की परंपरा, रूढ़ियाँ, संस्कृति, अन्याय, अत्याचार, अपमान, शोषण आदि सभी कुछ का बयान हो रहा है। आज लोककला, संगीत, नृत्य, संस्कृति, भाषा, बोली, लिपि आदि सभी धरातलों पर आदिवासी लेखन एक व्यापक साहित्य का हिस्सा बनता दिख रहा है। यह एक ऐसा जन साहित्य है, जिसमें लक्षित विद्रोह व प्रतिरोध का स्वर जीवन के बुनियादी सरोकार और हक़ों से महरूम करने वाली पैशाचिक व्यवस्था के विरोध की अभिव्यक्ति है। दलित व स्त्री–विमर्श में

पर्यावरण संबंधी चिंता देखने को नहीं मिलता, इसके विपरित उनके सामाजिक पहचान का सवाल सर्वोपरि होता है। आदिवासी समाज की जब भी बात होती है, तब प्रश्न भावी संतति को बचाने के प्रश्नों से भी जुड़ा होता है। दलित–विमर्श में दलित अस्मिता की बात बार-बार दोहराई जाती है, जबकि आदिवासी साहित्य में आदिवासी समाज की अस्मिता, पर्यावरण को बचाने की चिंता, आजादी के बाद सरकार के दुर्नितियों का शिकार आदिवासी समाज, भूमंडलीकरण और पूंजीवादी संस्कृति द्वारा आदिवासी जन-जीवन से खिलवाड़ के साथ ही भावी मानवता को बचाने का सवाल भी अंतर्निहित है।

मूल संताली भाषा की परंपरा में निर्मला पुतुल के स्थान से अभिज्ञ होते हुए भी मुझे लगता है कि हिन्दी रूपान्तर में इन कविताओं का स्वाद और संदेश निश्चय ही भिन्न है। प्रतिरोध की कविता की महान परम्परा में जहाँ 'नगाड़े की तरह बजते हैं शब्द' निर्मला पुतुल का यह संग्रह अपना स्थान प्राप्त करेगा --

आज की तारीख के साथ/ कि गिरेंगी जितनी बूंदे लहू की पृथ्वी पर/
उतनी ही जनमेगी निर्मला पुतुल/हवा में मुट्‌ठीबँधे हाथ लहराते हुए।"[1]

हिन्दी में आदिवासी साहित्य को गति देने का श्रेय झारखण्ड के हजारीबाग से प्रकाशित पत्रिका 'युद्धरत आम आदमी' (1981, सं. रमणिका गुप्ता) और उदयपुर राजस्थान से प्रकाशित होने वाली पत्रिका 'अरावली उद्‌घोष' के संपादक बी.पी. वर्मा 'पथिक' जी को दिया जाता है।"[2] इन पत्रिकाओं ने न सिर्फ आदिवासी समाज की समस्याओं को उद्‌घाटित किया, बल्कि आदिवासियों द्वारा रचित साहित्य के माध्यम से उनकी समस्याओं से सम्पूर्ण भारत को अवगत कराया। आदिवासी समाज की चिंताओं को लेकर आज साहित्यिक भूमि पर बहुसंख्यक रचनाधर्मी रचनाशील नज़र आते हैं। आदिवासी लेखिकाओं में निर्मला पुतुल आज किसी परिचय की मोहताज नहीं हैं। आदिवासियों द्वारा आज जितने भी आंदोलन किये जा रहे हैं, उन सभी प्रतिरोध के स्वरों में हम निर्मला पुतुल का स्वर, सामाजिक व साहित्यिक दोनों की स्तरों पर देख-सुन सकते हैं। उनकी कवितायें हाशिये के इस समाज की अस्मिता की न सिर्फ मांग करती रही हैं, बल्कि हाशिये के इस समाज की आवाज़ बनकर प्रतिरोधी शक्तियों के खिलाफ़ शब्दक्रांति भी करती रही हैं। निर्मला पुतुल की कवितायें आदिवासी क्षेत्र की स्त्री-पुरुषों के जीवन में व्याप्त दुःख, त्रासदी, अत्याचार की कहानी तो कहती ही है, साथ ही सवर्ण ज़मीदारों, शासन-प्रशासन की तानाशाही क्रूरता, शोषण, अत्याचार, बलात्कार जैसी विद्रूपताओं का पर्दाफाश भी करती है। निर्मला पुतुल आदिवासी स्त्री के जीवन में व्याप्त सच्चाई को पूरी संजीदगी से अपने कविता संग्रह 'नगाड़े की तरह बजते शब्द' में ताना-बाना बुनती नज़र आती हैं।

अरुण कमल निर्मला पुतुल की कविताओं के संबंध में उनके काव्य-संग्रह के कवर पृष्ठ पर अपने विचार कुछ इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं-- 'मूलतः संताली भाषा में लिखी सुश्री निर्मला पुतुल की कवितायें एक ऐसे आदि लोक की पुनर्रचना है, जो आम सर्वग्राही वैश्विक सभ्यता में विलीन हो जाने के कगार पर है। आदिवासी जीवन, विशेषकर स्त्रियों का सुख-दुःख अपनी पूरी गरिमा और ऐश्वर्य के साथ निर्मला पुतुल की कविताओं में व्यक्त हुआ है। आज की हिन्दी कविता के प्रचलित मुहावरों से

कई बार समानता के बावजूद कुछ ऐसा तत्त्व है, इन कविताओं में, संगीत की एक ऐसी आहट और गहरा आर्त्त नाद है, जो अन्यत्र दुर्लभ है। इन कविताओं की दुनिया बाहामुनी, फूलों-पत्रों-मादल और पलाश से सज्जित एक ऐसी कठोर, निर्मम नदियाँ। यह दुनिया सिद्धू-कानू और बिरसा के महान वंशजों की दुनिया भी है, पहाड़ पर अपनी कुल्हाड़ी की धार पिजाती की दुनिया। वह आदिम संसार अपने सर्वोत्तम रूप में 'उतनी दूर मत व्याहना बाबा' कविता में व्यक्त हुआ है। यह ऐसी कविता है जिसमें एक साथ आदिवासी लोकगीतों की सांद्र मादकता, आधुनिक भावबोध, एक साथ आदिवासी और प्रतिरोध की गम्भीर वाणी स्फूटित होती है। ये कविताएँ स्वाधीनता के बाद हमारे राष्ट्रीय विकास के चरित्र पर प्रश्न करती हैं। सभ्यता के विकास और प्रगति की अवधारणा को चुनौती देती, ये कविताएँ एक अर्थ में सामाजिक-सांस्कृतिक तथा धार्मिक प्रस्तुति भी है।

निर्मला पुतुल की कविता-संग्रह 'नगाड़े की तरह बजते शब्द' की पहली ही कविता 'क्या तुम जानते हो' में स्त्री का दर्द उभरकर सामने आता है। स्त्री को सदियों से रसोई और बिस्तर की गणित से परे समझने की कोशिश कभी नहीं की गई। वह जिस्मानी स्तर पर ही पुरुष समाज में चर्चा व भोग की विषय वस्तु बनी रही। कभी भी उसके जिस्म से ईतर हो उसके मन को पढ़ने की वकालत किसी ने नहीं की। स्त्री को स्त्री रूप में समझने का कभी प्रयास नहीं किया गया। इन सभी यथास्थितियों की मार्मिक अभिव्यक्ति निर्मला पुतुल अपनी कविता में करती हैं। स्त्री मात्र शरीर नहीं है, उससे परे भी उसकी एक स्वतंत्र सत्ता है। निर्मला पुतुल की कवितायें इस देह होने के अतिरेक से बाहर निकलना चाहती हैं। उदाहरणार्थ –

''तन के भूगोल से परे/एक स्त्री की गाँठे खोलकर/कभी पढ़ा है तुमने/उसके भीतर का खौलता इतिहास?../अगर नहीं!/तो फिर जानते क्या हो तुम/रसोई और बिस्तर के गणित से परे/एक स्त्री के बारे में..?[3]''

कवयित्री निर्मला पुतुल ने उन आदिवासी कामगर महिलाओं की स्थिति को उजागर करने का प्रयास किया है जो उच्च, सभ्य व शिखर सोसाईटी के लिए झाड़ू, पत्तल, चटाइयाँ, दातुन इत्यादि बनाती हैं और उनकी स्वयं की स्थिति कितनी अभावग्रस्त और विडम्बना से परिपूर्ण है, जो यह कविता के द्वारा उजागर हो रहा है। स्त्री अपने जीवन में अस्तित्व के लिए तरस कर रह जाती है। निर्मला पुतुल अपनी कविता 'अपने घर की तलाश में' के माध्यम से स्त्री के जीवन के उस सच को दिखाने का प्रयास किया है, जिसमें स्त्री अपने आप में भीतर पूरी की पूरी धरती समाहित किये हुई है, वह जननी है, किन्तु उसके साथ जीवन की ऐसी विडम्बना है कि उसके पास कोई अस्तित्व ऐसी नहीं है, जिसे वह अपना कह सके। जहाँ वह एकान्त बैठ अपने दर्द को शान्त कर सके। एक स्त्री शादी के उपरान्त चार दीवारों से बने मकान को घर बनाती है, किन्तु उसको वो अपना कह सके उसे इतना भी अधिकार प्राप्त नहीं होता। जिस घर की चाहारदिवारियों को वो घर बनाती है, उस घर के दरवाजे पर नेम प्लेट लगती है, तो उसके अपने पति की। स्त्री समाज की एक अहम कड़ी है। सामाजिक विकास उसके बिना संभव नहीं है। यही कारण है कि उसे धरा की संज्ञा से नवाज़ा जाता है, किन्तु इन सबके विपरित वास्तविकता यह

है कि वह अपने परिवार व समाज में उपेक्षित व प्रताड़ित है। स्त्री और पुरुष दोनों का एक दूसरे के बिना अधूरा जीवन होता है। फिर इस प्रकार का भेदभाव करना क्या जायज है। यथा—

"अन्दर समेटे पूरा का पूरा घर/मैं बिखरी हूँ पूरे घर में/पर यह घर मेरा नहीं है/बरामदे पर खेलते बच्चे मेरे हैं/घर के बाहर लगी नेम प्लेट मेरे पति की है/मैं धरती नहीं पूरी धरती होती है मेरे अन्दर/पर यह नहीं होती मेरे लिए"।[4]

निर्मला पुतुल की कविताएँ उनके अपने समाज के गहरे अनुभव से संपृक्त हैं। वे अपने समाज की आदिवासी बहनों को सम्बोधित करते हुए कहती हैं, हे आदिवासी बहन तुम्हारे द्वारा तैयार किया गया पत्तल की थाली में सभी वर्गों और समुदायों के लोगों के क्षुदा की पूर्ति होती है, लेकिन हजारों पत्तल से हम आदिवासी के पेट नहीं भरा जाता, यानि हमें खाने भर की भी मजदूरी नहीं मिलती। ये भारतीय समाज की कैसी व्यवस्था है, तुम तपती और चिलचिलाती धूप में नंगे बदन से सहती हो, जिनके लिए तैयार करती हो दातुन और झाड़ू उसी समाज से ये कचरा तुम्हारी बस्ती में आती है। निर्मला पुतुल की कविता से—

तुम्हारे हाथों बने पत्तल पर/भरते हैं हजारों/और हजारों पत्तल भर नहीं पाते पेट/कैसी विडम्बना है/कि जमीन पर बैठकर बुनती हो चटाइयाँ/और पंख बनाते टपकता है/तुम्हारे करियाये देह से टप-टप पसीना/क्या तुम्हें पता है कि/जब कर रही होती हो तुम दातुन/तब तक कर चुके होते हैं सैकड़ों भोजन-पानी/तुम्हारे ही दातुन से मुँह-हाथ धोकर/जिन घरों के लिए बनाती हो झाड़ू/उन्हीं के घरों से आते हैं कचरे /तुम्हारी बस्तियों में।[5]

स्त्री चाहे किसी भी वर्ग समाज की हो, वह किसी न किसी प्रताड़ना की शिकार है। एक तरफ जहाँ वह वर्ण सत्ता की शिकार है, वहीं दूसरी ओर पितृसत्ता की। यद्यपि सवर्ण समाज की स्त्रियों के अपेक्षाकृत दलित-आदिवासी स्त्रियाँ श्रम क्षेत्र में कहीं ज्यादा स्वतंत्र है, किन्तु बावजूद इसके पुरूष चाहें आदिवासी समाज का हो या फिर दलित समाज का, पितृसत्ता के नशे में चूर वह भी रहता है और जिसका सीधा प्रभाव स्त्री शोषण और उसकी अस्मिता पर पड़ता है। स्त्री के इस मनोदशा का चित्रण निर्मला पुतुल अपनी कविता 'क्या हूँ मैं तुम्हारे लिए' शीर्षक में बड़ा ही सूक्ष्मता के साथ किया है। इसकी प्रस्तुति के लिए दीवार, गेंद, चादर आदि बिम्बों के माध्यम से उसके जीवन की विसंगतियों की जबरदस्त बिम्बात्मक अभिव्यक्ति हुई है। पुरुष समाज स्त्री को किसी समान से अधिक नहीं समझता, जिसे जैसे चाहा इस्तेमाल किया। वह स्त्री कुछ नहीं कह और कर पाती है। इसका प्रमाण निर्मला पुतुल की कविता में समाहित है। निर्मला पुतुल की कविता से—

खामोश खड़ी दीवार/कि जब जहाँ चाहा/कील ठोक दी/कोई गेंद/कि जब तब /जैसे चाहा उछालदी/या कोई चादर कि जब जहाँ-तैसे /ओढ़-बिछा ली?/चुप क्यों हो!/कहो न, क्या हूँ मैं/तुम्हारे लिए?[6]

निर्मला पुतुल चेतना स्त्रियों की इस दशा से ही व्यथित नहीं हैं, बल्कि सन्थाल परगना में जन्मी कवयित्री अन्धाधुन्ध अति आधुनिकता से नष्ट हो रहे अपनी सरज़मी से भी क्षुब्ध हैं। उन्हें अपने धरती, पेड़-पौधे, पहाड़-नदियाँ वहाँ की आबो-हवा आदि प्राकृतिक उपादानों से विशेष प्रेम है।

वहाँ के कण-कण में उनकी अंतरात्मा रची-बसी हुई है, किन्तु बाजारवादियों, पूँजीपतियों ने अपने फायदे के लिए दिन-प्रतिदिन जंगल को काटकर उसकी पृष्ठभूमि से छेड़-छाड़ कर दिया है। संथाल परगना अब पहले जैसा नहीं रह गया। कंकरीट के फैलते जंगलों ने वर्षा वनों को नष्ट करना प्रारम्भ कर दिया है, और इन सबके बीच संथाल परगना अपनी पहचान खोता जा रहा है। बाजारवाद ने बाजार के मिथ्या आकर्षण में फँसा आदिवासियों को पलायनवादी बना दिया है। निर्मला पुतुल को अपनी भाषा, अपनी संस्कृति और अपनी जल, जंगल और जमीन की चिंता है। अपनी जमीन की खुशबु विलुप्त होती हुई की चिंता है। आदिवासी की पहचान ही समाप्त हो गयी है, जिससे यह जाना जाता था कि यह आदिवासी समाज है। आदिवासी लोगों का जनसमूह है। आज आदिवासी समाज की संस्कृति वैश्विकरण में समाप्त होती चली जा रही है। इन सबकी गहरी चिन्ता उनकी कविता 'संथाल परगना' में स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। जैसे—

सन्थाल परगना /अब नहीं रह गया सन्थाल परगना!/बहुत कम बचे रह गये हैं/अपनी भाषा और वेशभूशा में यहाँ के लोग/......./बाजार की तरफ भागते/सब कुछ गड्डमड्ड हो गया है इन दिनों यहाँ/उखड़ गये हैं बड़े-बड़े पुराने पेड़/और कंक्रीट के पसरते जंगल में/खो गयी है इसकी पहचान।[7]

''आदिवासियों ने तो सपने में भी यह नहीं सोचा था कि उनके साथ ऐसा होगा। वे तो उन्मुक्त प्रकृति की गोद में रहे हैं-- प्रकृति की भाव-भंगिमाओं के साथ गाते-नाचते। इसी उन्मुक्ता के रहते अभावों भरी जिन्दगी की भी उन्होंने परवाह नहीं की। समृद्ध प्राकृतिक परिवेश में सीमित आवश्यकताओं के साथ एक लंबी, विशुद्ध और सांस्कृतिक परंपरा रही है। जीवन का आधार रही यह प्राकृतिक संपदा, उनकी पुश्तैनी भौम और सांस्कृतिक धरोहर उनसे छीनी जा रही है। जिसके लिए वे कतई तैयार नहीं और कोई माने या न माने वे इसके लिए कभी तैयार हो भी नहीं सकते। यह गंभीर संकट केवल आदिवासी वर्ग को ही झेलना पड़ रहा है।''[8]

कवयित्री निर्मला पुतुल को अपने आदिवासी क्षेत्र की जमीं से अत्यंत जुड़ाव है, और उनका यही जुड़ाव व आत्मीय प्रेम अपनी बस्तियों के आबो-हवा को सुरक्षित रखने के लिए आह्वान करती हैं। जंगल की ताजा हवा, नदियों की निर्मलता, पहाड़ों का मौन, मिट्टी का सोंधापन, लहलहाते फसलों की धानी चुनर, मैदान, हरी-भरी घास, पहाड़ों की शान्ति आदि को सम्पूर्ण आदिवासी समाज को आगे बढ़कर अपनी कविता 'आओ मिलकर बचाएँ' के माध्यम से बचाने का आग्रह करती हैं। अभी भी इसकी अस्मिता पूर्ण रूप से नष्ट नहीं हुई है, बल्कि अभी भी बचाने को बहुत कुछ है। उनका यह आग्रह कुछ और नहीं उनके हृदय में व्याप्त प्रकृति के प्रति अतिप्रेम के आवेग को प्रस्फुटित कर रही है। निर्मला पुतुल का मानना है कि हमारी संस्कृति, हमारी पहचान, सब मिटती जा रही है। यानि की शहरी प्रभाव से प्रभावित होती जा रही है। इससे हमें बचाना है, जो संवेदनाहीन है। जिसमें सिर्फ बनावटीपन के अलावा और कुछ भी नही है। जैसे—

अपनी बस्तियों को /नंगी होने से /शहर की आबो-हवा से बचाएँ उसे/....../जंगल की ताजा हवा/नदियों की निर्मलता/पहाड़ों का मौन/गीतों की धुन/मिट्टी का सोंधापन/फसलों की

लहलहाहट/......./बच्चों के लिए मैदान/पशुओं के लिए हरी-हरी घास/बूढ़ों के लिए पहाड़ों की शान्ति/......./आओं, मिलकर बचाएँ/कि इस दौर में भी बचाने को/बहुत कुछ बचा है, अब भी हमारे पास।[9]

निर्मला पुतुल को तथाकथित सभ्य समाज कही जाने वाली जातियाँ, सवर्ण जमीदार व पूँजी सत्ताधारियों की भोगवादी मानसिकता की गहरी पहचान है। यह वही समाज है, जो एक तरफ तो आदिवासियों के कालेपन पर हँसते हैं। उनकी भाषा, बोल-चाल, रीति-रिवाजों की खिल्लियाँ उड़ाते असभ्य, अछूत, गन्दे कह घृणा की दृष्टि से देखते हैं, वहीं दूसरी तरफ उनकी अपनी मेहनत व पसीने से उगी फसलों को वो अपना कहते हैं। आदिवासी स्त्रियों पर कुदृष्टि डाल उनके जिस्मों पर धावा बोलते हैं, और इन सबके बावजूद स्वयं को सभ्य समाज कहने का गौरव प्राप्त करते हैं। ऐसे छद्मधारी सवर्ण समाज के प्रति उनकी कविताओं में गहरा आक्रोश व टीस विद्यमान है। वह अपनी कविताओं में ऐसे समाज की मानसिकता की धज्जियाँ उड़ाते हुए, उनका वास्तविकता से परिचय कराती हैं। निर्मला पुतुल की कविता उसका यर्थात है जिसमें आदिवासियों की संवेदना समाहित है। निर्मला पुतुल की कविता से—

वे घृणा करते हैं हमसे/हमारे कालेपन से/हँसते हैं, व्यंग्य करते हैं हम पर/हमारे अनगढ़पन पर कसते हैं फब्तियाँ/मजाक उड़ाते हैं हमारी भाषा का/हमारे चाल-चलन, रीति-रिवाज/कुछ भी पसन्द नहीं उन्हें/....../जंगली, असभ्य पिछड़ा कह/हिकारत से देखते हैं हमें/........../प्रिय है तो बस /मेरे पसीने से पुष्ट हुए अनाज के दाने/......../उन्हें प्रिय है/मेरी गदराई देह/मेरा माँस प्रिय है उन्हें।[10]

आदिवासियों के मोहल्ले तक लोकतंत्र की सुख-सुविधा कभी आयी ही नहीं। बड़े-बड़े दावे, योजनायें बनाई जाती हैं, किन्तु अमल में नहीं लाया जाता। लोकतंत्र के नाम पर आदिवासी समाज के साथ दशकों से छल ही होता आ रहा है। उलटा सरकार की नीतियों ने उन्हें बरगला कर उनके जल, जंगल, जमीन और जीवन से खिलवाड़ ही किया है। घुसपैठ की इस राजनीति और गणतंत्र की धज्जियाँ उड़ाते हुए कवयित्री निर्मला पुतुल 'चुड़का सोरेन से' कविता में सवाल करती हुई पूछती है। जैसे—

तुम्हारी भाषा में बोलता वह कौन है/जो तुम्हारे भीतर बैठा/कुतर रहा है तुम्हारे विश्वास की जड़ें?/दिल्ली की गणतंत्र झांकियों में/अपनी टोली के साथ/नुमाइश बनकर/कई-कई बार पेश किए गए तुम/पर गणतंत्र नाम की/कोई चिड़िया/कभी आकर बैठी/तुम्हारे घर की मुंडेर पर?[11]

आजादी के 71 वर्षों के उपरान्त भी आदिवासी, दलित समाज हाशिये का ही समाज बना हुआ है। सांस्कृतिक दृष्टि से सर्वाधिक सम्पन्न होने पर भी वह शैक्षणिक व आर्थिक रूप से पिछड़ेपन का शिकार है। वे आज भी निर्वासित व अभावग्रस्त जीवन जीने के लिए मजबूर है। सरकार मात्र प्रगति के दावे और छलावे करती है। इन सबके प्रति विरोध व विद्रोह का भाव निर्मला पुतुल की कविताओं में अभिव्यक्त हुआ है जो सवर्ण समाज की मानसिकता का वर्णन है। जैसे—

ये वे लोग हैं/जो हमारे बिस्तर पर करते हैं/हमारी बस्ती का बलात्कार/और हमारी ही ज़मीन पर खड़े हो,/पूछते हैं हमसे हमारी औकात!/ये वे लोग हैं/जो मेरी कविताओं में भी तलाशते हैं/मेरी देह!"[12]

निर्मला पुतुल की कवितायें आदिवासी जीवन की सच को बयाँ करती हैं, बिना सहमें, बिना डरे। एक प्रकार से भोगे हुए यथार्थ की प्रकटीकरण हैं उनकी कवितायें। बिना किसी लाग लपेट के सच को उद्घाटित करने की अभूतपूर्व क्षमता उनकी कविताओं में विद्यमान है। उनके लिए कविता लिखना कोई कवि कर्म नहीं है। चिकनी चुपड़ी भाषा, छन्द, लय, तुक से परे उबड़-खाबड़ भाषा में ही वो अपने भावों को अभिव्यक्ति देती हैं, यह उनकी अनुभूति की अभिव्यक्ति है। जैस–

बिना किसी लाग-लपेट के/तुम्हें अच्छा लगे, ना लगे, तुम जानों/चिकनी-चुपड़ी भाषा की उम्मीद न करो मुझसे/जीवन के ऊबड़-खाबड़ रास्ते पर चलते/मेरी भाषा भी रूखड़ी हो गयी है।[13]

कवयित्री की कविताओं में आदिवासी समाज की पूर्ण छवि जीवंत होती दिखाई देती है। उनकी कवितायें उनके संघर्ष, विरोध और अस्मिता को प्रकट करती हैं। अपने एक साक्षात्कार में निर्मला पुतुल कहती हैं कि– ''मेरी कोशिश रही है कि मैं जिस सम्प्रदाय से आती हूँ, जिसके बीच रहती हूँ, जिसके लिए काम करती हूँ, उसी के आसपास की चीजें उसी भाषा में उसी तरह रखती हूँ जैसे रोजमर्रा की ज़िन्दगी में उनके साथ उठते-बैठते बोलती-बतियाती हूँ। यही वजह है कि मैं ज्यादातर अपनी मातृभाषा संताली में लिखती हूँ और जैसे भी जो लिखती हूँ भाषा और बिंबों की भूलभुलैया से परे बिल्कुल सीधे-सीधे संवाद की तरह होता है। चाहे वह चुड़का सोरेन, बाहामुनी, सरोजनी किस्कू, ढेपचा सोरेन या बुधन हांसदा जैसे पात्र हों या फिर बिटिया मूर्मू जैसी प्रतिनिधि आदिवासी महिला।''[14]

निर्मला पुतुल के लिए कविता एक मिशन है। वह स्वयं को कवियों की सूची में दर्ज नहीं करना चाहतीं। वे तो अपने शब्दों के माध्यम से आदिवासी समाज में चेतना जागृत करना चाहती हैं। निर्मला पुतुल शब्दों की शक्ति से भली-भांति परिचित हैं। उनकी चाह है कि उनकी कविताओं के शब्द उन व्यक्तियों की आँखे व जुबान बनकर सामने आये, जो आँख होते हुए अंधे और जुबान होते हुए भी गूँगे बने हुए हैं। उनकी कविताओं के स्वर सारे आदिवासी समाज को व्यवस्था के खिलाफ प्रतिकार करने व विद्रोह चेतना के रूप में समाज में नव चेतना की लहर पैदा करना चाहती हैं। निष्कर्षतः कह सकते है कि कवयित्री निर्मला पुतुल की कविताओं में सम्पूर्ण आदिवासी लोगों का जीवन दर्शन समाया हुआ है। आदिवासियों के प्रति अपार संवेदना ही नहीं है बल्कि वे उनके दुःख दर्द में शामिल भी हैं। उनकी कविताओं में मुख्यतः आदिवासी स्त्रियों की दशा और उनकी मानसिक स्थिति का चित्र उभरकर आता है और आदिवासी अस्मिता जो हमेशा से खतरे में रही है। उनके साथ हमेशा अन्याय तथा अत्याचार होता रहा है। उसी की जुबान, आँख, कान बनकर निर्मला पुतुल की कविता सामने आती है। जो पूँजी, सत्ताधारी, सवर्ण जमींदारों द्वारा शोशित, दमित आदिवासी समाज की जीजिविका के साथ खड़ी है। आदिवासी समाज की धरोहर संस्कृति के बचाने की आह्वान करती है।

असिस्टेण्ट प्रोफेसर
हिन्दी विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

संदर्भ सूची -

1. *नगाड़े की तरह बजते शब्द, निर्मला पुतुल, कवर पृष्ठ 2-3 से*
2. *वर्तमान साहित्य, अप्रैल, 2009, पृ. सं. - 39*
3. *नगाड़े की तरह बजते शब्द, निर्मला पुतुल, पृष्ठ, 08*
4. *नगाड़े की तरह बजते शब्द, निर्मला पुतुल, पृ. सं. - 08*
5. *हिन्दी दलित कविता, रजतरानी मीनू, पृ. सं. 136, नवभारत प्रकाशन, अशोक नगर, शाहदरा, दिल्ली - 93, प्रथम संस्करण - 2009*
6. *नगाड़े की तरह बजते शब्द, निर्मला पुतुल, पृ. सं. — 30*
7. *नगाड़े की तरह बजते शब्द, निर्मला पुतुल, पृ. सं. - 26*
8. *समकालीन आदिवासी कविता, संपादक- हरिराम मीणा, अलख प्रकाशन, 31, शिवशक्ति नगर, किंग्स रोड, अजमेर हाईवे, जयपुर - 302019, प्रथम संस्करण - 2013, पृ. सं. 10*
9. *नगाड़े की तरह बजते शब्द, निर्मला पुतुल, पृ. सं. - 76-77*
10. *वही, पृ. सं. - 72-73*
11. *समकालीन आदिवासी कविता, संपादक- हरिराम मीणा, अलख प्रकाशन, 31, शिवशक्ति नगर, किंग्स रोड, अजमेर हाईवे, जयपुर - 302019, प्रथम संस्करण - 2013, पृ.सं. 10*
12. *मगहर, अक्टूबर 2012, संपादक - मुकेश मानस, ए-2/128, सेक्टर - 11, रोहिणी, दिल्ली- 110085, पृ.सं. 61*
13. *नगाड़े की तरह बजते शब्द, निर्मला पुतुल, पृ. सं. - 94*

वर्तमान सिनेमा : सफलता, भाषा और शीर्षक

— पंकज तिवारी

एक देश . . .
एक वर्ष . . .
एक उद्योग . . .

और निर्मित होने वाली फीचर फिल्मों की संख्या 2336 . . . । वे गणित लगाते हैं, वे रूझान बताते हैं, वे भविष्यवाणियाँ करते हैं। वे फिल्मों के आलोचक हैं, किन्तु सब गणित, सभी भविष्यवाणियाँ सभी रूझान अधिकांशतः झूठे साबित होते हैं। भारतीय सिनेमा की धारा ऐसी है। उसका अपना स्वभाव है, अपनी गति है, उसे नियंत्रित करना कठिन ही नहीं नामुकिन है। अनुमानों से परे यहाँ दशकों की अभिरूचि और मंतव्य ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। करोड़ो की लागत वाली फिल्में यहाँ पर असफल हो जाती हैं, जबकि बहुत कम लागत की प्रयोगधर्मी फिल्में दर्शकों पर अपनी छाप छोड़ने में सफल रहती हैं।

यद्यपि भारतीय सिनेमा अपनी सौ वर्षों की यात्रा के बाद अपेक्षाकृत परिपक्व और प्रयोगशील होता जा रहा है। नये जोखिम उठाने का साहस और रचनात्मकता का बढ़ता स्तर आज की फीचर फिल्मों की पहचान बन चुका है।

यह स्पष्ट हो चुका है कि एक वर्ष में सर्वाधिक फीचर फिल्मों का निर्माण करने वाला देश भारत ही है। भारी भरकम लाभ के साथ यह कला अब एक वृहद उद्योग के रूप में प्रतिष्ठित नज़र आती हैं।

ऐसी मान्यता थी कि भारतीय सिनेमा का अस्तित्व मसालेदार चलचित्रों की बुनियाद पर टिका है। किन्तु बीते वर्षों में इस तरह की अनेक मान्यताऐं बदल चुकी हैं। प्रबुद्ध दर्शक वर्ग की उपस्थिति ने व्यवसायिकता के समीकरण को काफी हद तक प्रभावित किया है। बहुचित्रपट प्रस्करण (मल्टीप्लेक्स) और उपग्रह प्रणाली द्वारा हज़ारों स्थानों पर एक साथ फिल्म प्रदर्शन की सुविधा ने इस उद्योग में नयी ऊर्जा का संचार किया है। इस तकनीक ने फिल्म निर्माण के जोखिम और अप्रत्याशित नुकसान के भय को समाप्त करने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया है।

पिछले दशक में भारतीय सिनेमा ने अनेक दौर देखें है। यहाँ बनने वाली फिल्मों की लागत

कई सौ करोड़ तक पहुँचने लगी, रोबोट, कबाली, हेप्पी न्यू इयर, क्रिश थ्री, धूम थ्री, बाहूबली ऐसी फिल्में हैं, जिन्होंने फिल्म निर्माण के लागत और होने वाली कमाई के सारे कीर्तमान तोड़ डाले किन्तु भारतीय ग्रामीण पृष्ठभूमि पर निर्मित होने वाली फिल्म 'दंगल' का जिक्र करना यहाँ प्रासंगिक होगा यह फिल्म कई मायनों में भारतीय सिनेमा का प्रतिनिधित्व करती दिखाई देती है। पटकथा निर्देशन और अभिनय का बेजोड़ उदाहरण प्रस्तुत करती हुयी, यह फिल्म अनेक मिथकों को तोड़ने में सफल रही है। यदि कहानी अपनी हो, दिल को छूने वाली हो, निर्देशन में कसावट हो और अभिनय यथार्थवादी हो तो आज भी बाक्स आफिस पर कमाई के कीर्तमान बनाए जा सकते हैं। लोकप्रियता की मिसाल भी कायम की जा सकती है। सफल सिनेमा के मूल में सदैव ही अच्छी पटकथा के दर्शन होते हैं। भारतीय सिनेमा के आरंभिक दौर में किसान, गाँव, खेत, खलिहान, पनघट, मेले, हाट-बाजार और तीज़-त्यौहार अनिवार्य रूप से कहानी में नज़र आते थे। विशेषतौर पर हमारे आसपास के जीवन की हू-ब-हू झांकी प्रस्तुत करने का प्रयास किया जाता था। कहना होगा कि कहानियाँ सर्वहारा वर्ग के ईर्दगिर्द घूमती थीं और सिनेमा देखने वाला दर्शक कहीं-न-कहीं उसमें अपने जीवन को खोजने लगता था। धीरे-धीरे सिनेमा जगत में व्यवसायिकता बढ़ती गई और आम आदमी की कहानी फिल्मों से गायब हो गईं। अब फिल्मों में कहानी नहीं केवल फार्मूला था, अस्सी और नब्बे के दशकों को आज भी मसाला फिल्मों के लिए याद किया जाता है।

भारतीय सिनेमा में हमेशा तीन धाराएँ मौजूद रही हैं विशुद्ध व्यवसायिक दृष्टिकोण से निर्मित फिल्में, विशुद्ध कला की दृष्टि से निर्मित फिल्में और प्रयोगधर्मी सिनेमा वर्तमान समय प्रयोगधर्मी सिनेमा का है। यह काल भविष्य में विभिन्न प्रयोगधर्मी फिल्मों और उनकी सफलताओं के लिए रेखांकित किया जावेगा। इस समय हम भारतीय सिनेमा में हो रहे नवीन प्रयोगों की पूरी की पूरी श्रृंखला को देख सकते हैं। जीवन वृत्त पर आधारित सिनेमा की बात हो जो लीजेंड ऑफ भगतसिंह से शुरू होकर 'मेरीकॉम' और 'मिल्खा सिंह' तक होती हुई फोगाट परिवार पर समाप्त होती है। या फिर सच्ची घटनाओं पर आधारित सिनेमा जो भोपाल गैस त्रासदी, बम्बई 26/11 आतंकवादी हमलों, ग़ाजी अटैक, कारगिल युद्ध की पीड़ा उजागर करता है। क़स्बों और छोटे नगरों की सौंधी खुशबु को समेटे अब एक ऐसे सिनेमा का चलन भी बढ़ता जा रहा है, जो कम बजट और स्थानीय लोकेशन पर फिल्माये गये दृश्यों से विशेष तरह के देशी अंदाज को प्रगट करता है। बरेली की बर्फी, तनुवेडस मनु 1 और 2 राझड़ा आदि ऐसी फिल्में है जो इस तरह की प्रयोगधर्मिता को उजागर करती हैं।

इस पूरे मामले में एक और बात सामने आती है कि अब फिल्में बनाना केवल बड़े-बड़े घरानों (प्रोडक्शन हाउस) का काम नहीं रहा। अनेक नवीन युवा फिल्मकार अपनी समझ, अनुमन अपनी क्षेत्रीयता और संस्कृति के साथ अपनी कृतियों के साथ नज़र आते हैं।

भारतीय सिनेमा परम्परा में फिल्म निर्माण का यह दौर अनुवाद के लिये भी हमेशा स्मरण किया जाता रहेगा। दक्षिण भारतीय भाषाओं और विदेशी सिनेमा को हिन्दी और अंग्रेजी भाषा में इसी

प्रकार हिन्दी के सिनेमा का दक्षिण भारतीय भाषाओं और विदेशी भाषाओं में प्रस्तुतिकरण इस दौर का सर्वाधिक चर्चित विषय रहा है।

यह समय अटपटे शीर्षकों के लिए भी सदैव संदर्भित किया जाता रहेगा क्योंकि हिन्दी भाषा के सिनेमा के अंग्रेजी शब्दों वाले बेमेल शीर्षक जो हमें चिढ़ाते से नज़र आते हैं। जबकि साठ सत्तर अस्सी के दशको में विशुद्ध संस्कृत के तत्सम शब्दों का उपयोग भी शीर्षकों में किया जाता था, अमानुष, अनामिका, अभिमान, अंकुश, मंथन, संग्राम, प्रतिज्ञा, संयोग, वंश, उत्सव, कथा, आकाश, धर्मवीर आदि भाषायी समृद्धि का द्योतक थे और तो और ग्रामीण परिवेश की खुशबू को समेटे ठेठ आंचलिक शब्द भी फिल्मी शीर्षकों का हिस्सा रहे जैसे, नदिया के पार, महुआ, परदेसिया आदि।

आज फिल्मों के शीर्षक बदल गये हैं, उनके कथानक बदल गये हैं। शायद इसलिए कि फिल्मों का रसास्वादन करने वाले दर्शक बदल गये हैं तथा फिल्मों के प्रदर्शन की तकनीक और स्थल भी पूरी तरह बदल चुके है। बुनियादी तौर पर फिल्मों में प्रयुक्त भाषा आमजनों की साधारण बोलचाल की भाषा होती है। और ज़्यादातर बोली के लोकप्रिय शब्दों का प्रयोग हमें सिनेमाई भाषा में सुनाई देता है। किन्तु आज भारत के दर्शक भी भाषा बदल चुकी है, उसकी बोलचाल में अंग्रेजी के शब्द और वाक्यांश बहुतायत में प्रयुक्त होते है। यही कारण है कि फिल्म के शीर्षक अब अंग्रेजी में होते हैं तथा उसकी भाषा में भी लोकभाषा और हिन्दी के शब्दों की जगह अब अंग्रेजी के शब्दों और वाक्यों ने ले ली है। अब फिलमों के शीर्षक है, तनुबेड्स मनु, ऑल इज वेल, थ्री इडियटस, ओ माय गॉड, ऑल द वेस्ट, रास्कल्सस, ए.बी.सी.डी., बेलकम, नो एंट्री, थैंक्यू, सीक्रेट, सुपरस्टार इत्यादि।

यह परिवर्तन मात्र परिवर्तन होता अथवा रचनात्मक प्रक्रिया का अंग होता तो इसे स्वीकार करने में किसी को कष्ट नहीं होता, परन्तु यह बदलाव भाषा की सामर्थ्य और समृद्धि पर प्रश्न चिन्ह लगाने वाला है। दरअसल, पिछले दो दशकों में अंग्रेजी ने कम्प्यूटर, इंटरनेट, सेल फोन में छिपकर भारतीय भाषाओं पर घातक हमले किये हैं, जोकि दीर्घकाल तक हानि पहुँचाते रहेंगे क्योंकि शब्द और भाषा संस्कृति की देन है, शब्दों का भाषा से लुप्त होना, परम्पराओं, रीतिरिवाजों, संबंधों और मूल्यों की इतिश्री जैसा है।

सिनेमा बहुत बड़ा जन माध्यम है, इसकी जबावदेही में मनोरंजन के साथ सामाजिक सरोकार और दायित्व भी अनिवार्य रूप से शामिल हैं। ऐसी स्थिति में भाषायी सुचिता का अनुत्तरित प्रश्न संपूर्ण सिनेमा जगत के समक्ष मुँह बाए खड़ा है।

निदेशक
शैक्षणिक बहुमाध्यम अनुसंधान केन्द्र
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर (म.प्र.)

सात कविताएँ

– पंकज चतुर्वेदी

अन्यथा

सुंदर
और सुंदर
होता है
प्रतिरोध से
अन्यथा जो सौंदर्य है
वह तुम्हें मिला है
उससे तुमने
न्याय नहीं किया है

दुख आता है तो शायद

दुख आता है तो शायद
इस प्रयोजन से भी
कि तुम यह न समझो
कि जो दुख में पड़े हैं
वे उसी के योग्य हैं
बल्कि इसलिए
कि जिस आसमान के
नीचे वे रहते हैं
उसमें तुम्हारा भी साझा है
और उसके नीले रंग को
तुम पहचान सको !

सौम्य कोशिश

जिस गिलास में
पानी पी रहा हूँ
उस पर खुदा है
दिवंगत का नाम
अमरता की
यह सौम्य कोशिश
मेरे जीते-जी
सफल है
पानी नहीं
उसकी अमरता का
घूँट पीता हूँ

क़रीब

रेलगाड़ी जब किसी शहर के
नज़दीक पहुँचती है
तो उसके हॉर्न को
ध्यान से सुनो
उसमें एक हिदायत है
कि 'देखो, मैं आ रही हूँ
सावधान.!
और शायद इसी
प्यार के चलते

उस आवाज में
मनुष्यता के करीब आने का
उत्साह छलकता है

रोजर फ़ेडरर

रोजर फ़ेडरर
जब मैच हारते हैं
तो एक बार
रोते ज़रूर हैं
मित्रो !
दुखद नहीं है हार
सवाल यह है :
क्या तुम जीत से
इतना प्यार
करते हो ?

कोशिश

कविता एक अच्छा जीवन
जीने की कोशिश है
और अगर वह कामयाब हुई
तो उससे यह नहीं साबित होता
कि जीवन अच्छा था
बल्कि यह होता है
कि कोशिश अच्छी थी

पार

जिंदगी में
दो ही चीज़ें है—
प्यार और मार
और इनसे भी
बड़ी चीज़ें है
वह जगह
जहाँ पहुँचकर
तुम्हें लगे
कि तुम कर आये हो
इन दोनों को
पार

असिस्टेंट प्रोफेसर
हिन्दी विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

दो कविताएँ

— दिनेश अत्रि

1. आत्मज्ञान

स्वर्ग में आदम और हव्वा मज़े में थे। जो जी चाहे कर सकते थे। हँसते खेलते स्वर्ग-वाटिका जा पहुँचे। द्वार पर निषेधाज्ञा जड़ी थी, ''सेब खाने की मनाही है।''

सुर्ख़, गुदाज और मादक-सेब सबसे ज़्यादा ललचाते थे। हव्वा से रहा नहीं गया।
उसने सेब खाने की इच्छा प्रकट की। ईश्वर ने कहा, ''तुम लोगों के लिए सेब वर्जित है, शेष कोई भी फल तुम खा सकते हो।''
आदम ने भी समझाया, ''ईश्वर की आज्ञा है, हमें पालन करना चाहिए।''

हव्वा नहीं मानी। हठपूर्वक आखिर उसने वर्जित फल तोड़ ही लिया। जैसे ही उसने फल चखा उसे ज्ञान हुआ, वह नग्न है। शर्म से उसकी आँखें झुक गईं।
उसने कनखी से देखा, आदम भी निर्वस्त्र था।

निषेधाज्ञा की अवहेलना के दण्डस्वरूप ईश्वर ने आदम और हव्वा को स्वर्ग से निष्कासित कर दिया।

विएना के प्रमुख बाज़ार-मारियाहिल्फर में परिधान विक्रेता कलेडर बॉएर के आगे निर्वस्त्र लोगों की भीड़ जुड़ी है। ये इसलिए निर्वस्त्र हैं क्योंकि निर्वस्त्र आने वाले लोगों के लिए कम्पनी ने तीन सो पिच्यासी डॉलर के परिधान मुफ़्त देने की घोषणा की है।

कलेडर बॉएर आदम हव्वा की संतानों को मारियाहिल्फर आने का आह्वान कर रहा है।

स्वर्ग में ईश्वर बुला रहा है।
मारियाहिल्फर में कोई नंगा नहीं।
ग़लती हमी से हुई। हमें प्रार्थना करनी चाहिए थी, ''प्रभु, हम ज्ञानी हैं। हमें ज्ञान
से अज्ञान की ओर ले चलो।'
•
2
ज्ञान सबसे पहला माल था
निषेध सबसे पहला विज्ञापन
•
(दैनिक भास्कर, भोपाल 6 मार्च, 2000 की एक ख़बर पढ़कर)

2. सलाइयाँ

शाम के आँगन के धुंधलाते कोने में खरगोश चुपचाप खड़ा है। मैं उसे अपने साथ ले जाने के लिए मचलता हूँ। पुचकारता, थपथपाता हूँ। डोरी हौले से खींचता हूँ। वह नहीं चलता। मैं थोड़ा और ज़ोर लगाता हूँ। वह भी ज़ोर लगाता है। जितनी ही ज़ोर से मैं खींचता हूँ, उतना ही वह भी। उसके पिछले पंजे ज़मीन में गड़ गए हैं, अगले हवा में– जैसे साथ न ले जाने की प्रार्थना कर रहा हो।

मैं अकेला चला जाता हूँ।

बरसों बाद,
माँ स्वेटर बुन रही है। आँगन में खरगोश की स्मृति बँधी है। मैं जानना चाहता हूँ, उस खरगोश का क्या हुआ ? माँ बताती है, ''बहुत पहले एक सुबह, तू बहुत छोटा था, खरगोश खूँटे से बँधा मरा मिला। उसकी गरदन खिंची हुई थी।''

...जिसे मैं उसका अड़ियलपन समझता रहा था, वह मृत्यु की ज़िद थी। आखीर में मैं खरगोश नहीं उसके भ्रम को खींच रहा था। जिसे मैं डोर समझे था, वह ऊन का सिरा था। अनजाने मैंने खरगोश को ऊन के गोले सा उधेड़ कर रख दिया था।...

माँ की गोद में ऊन का सफ़ेद मुलायम गोला उछलकूद करते धीरे-धीरे हो रहा है...मैं एक लच्छी हल्का हो गया लगता हूँ; भयभीत, गोला उठाकर भाग जाता हूँ।...
पीछे-पीछे सलाइयाँ खिंची चली आ रही हैं।...

हरिरम्मा
मीनाक्षी पुरम्, पथरिया जाट,
सागर (म.प्र.)

सागर से लौटते समय

— कुमार कृष्ण

सागर के पास भी है अपना छोटा-सा सागर
वह नहीं जानता नदियों की तकलीफ़
लहरों का आक्रोश
सागर का सागर
बादल और पृथ्वी की उम्मीद का नाम है
सागर के पास भी हैं— प्रेमशंकर-शोभाशंकर
जिनके पास मौजूद हैं
रिश्तों के बीज की अनगिनत बोरियाँ
राग की आग
गोविन्द द्विवेदी, वीरेन्द्र मोहन भी हैं उसके पास
वे जानते हैं, अच्छी तरह
छोटे-छोटे क्षणों की गुदड़ी
पूरी तरह फट जाने पर भी
कहीं छुपाकर रखती है अपने भीतर
दोस्ती की गरमाहट
सागर के पास भी है एक शिव कुमार श्रीवास्तव
वह उम्र भर छुपाता रहा रंगों में सागर
बतियाता रहा शब्दों से चुपचाप
उड़ाता रहा अकेला एक पतंग
सिलता रहा लोकतन्त्र का फटा हुआ कुर्ता
सागर के पास हैं चिरौंजी की बर्फी
खोये की जलेबियाँ
तेंदूपत्तों के आँसू

कुछ तिराहे, कुछ चौराहे
सागर के पास भी है एक छोटा-सा पहाड़
ताप केताये हुए दिनों को याद करते हुए
देख रहे हैं त्रिलोचन उस पहाड़ पर
गुलाब और बुलबुल का सपना
डाकघर के पास रहने पर भी
बहुत कम खटखटाता है डाकिया
त्रिलोचन शास्त्री का दरवाजा
मैं नहीं ढूँढ़ पाया सागर के पहाड़ पर
कोई छोटा-बड़ा तिरिछ
काट खाये थे जिसने बहुत पहले
उदय प्रकाश के पिता
मैं सोचता रहा लगातार—
भयानक तिरिछ के बारे में
त्रिलोचन शास्त्री के बारे में
आखिर एक न-एक दिन
किसी को तो मारना ही होगा तिरिछ।

''स्प्रिंगफील्ड'' नागड़ी
पोस्ट ऑफिस-सलाना
जिला - शिमला हिमाचल प्रदेश-171219

तीन कविताएँ

– नवीन कानगो

प्रेम की ज्यामिति

प्रेम बदल देता है
हमारी ज्यामिति
सहसा एक बिंदु
जीवन की द्विआयामी तस्वीर से उठकर
ऊर्ध्व होता चला जाता है

उसे छूने में बार बार
पुराना होता है तार तार
पीछे रह जाते हैं
शरीर, कुर्सी, कार
उनकी ज्यामिति, उनके आकार

उस एक बिंदु से
मिलती हैं नई परिभाषाएँ
नए गणन, नए कलन, नए फलन
प्रेम उठाता है प्रश्न
जीवन के समबाहु त्रिभुज न होने का
और कहता है कि इसके तरल प्रवाह के
हिसाब को समझो
जिसमें समाहित हैं अनेकों आकार
अनेकों आयाम

प्रेम देता है
नभ में निर्बाध विचरण की शक्ति और दिशा
बनते चले जाते हैं गोले, चतुर्भुज और पिरामिड
एक के बाद एक
वह मिलाता है तुम्हें तुमसे
अभी और यहीं
इसी काल और समय में
बिम्बों से प्रगट होते बिम्ब
तुमसे बनते कई सारे तुम
मिलने और टकराहट से बनते नए आकार

प्रेम जनमता है
जीवन की अनवरत बदलती आकृति आकृति को हल करता
एक समीकरण
जिसमें कभी कोई एक्स तो कभी कोई वाई होता जाता है

शब्द

शब्द सिर्फ़ काँपती हवा नहीं
शब्द में निहित होती है
उसकी सत्ता और अर्थ

गुलमोहर
दिल्ली
राजनीति
दलित
हत्या
स्त्री
रिश्वत
बलात्कार
समाज
हज़ारों-हज़ार बिंब बनाते ये शब्द

बड़े इठलाते हैं बाज़ार में -
अख़बार में
हम सभी के विचार में

इनकी सत्ता को समझना आसान है
ज़रा इमली या अचार बोल कर देखिए
मुँह में पानी बनेगा ही बनेगा

दिल्ली बोलने पर भी कुछ-कुछ होता है ?

शब्द बने और उनमें अर्थ घुस गए
या अर्थ के इर्द-गिर्द शब्द बुन गए
यह कहना अब संभव नहीं
हाँ, शब्द पहले लिखा नहीं
कहा ही गया होगा
शब्दों के दुरुपयोग एवं निरर्थक होने का
एक बड़ा उदाहरण हैं
हमारे नाम

मूलतः वे संबोधन मात्र हैं
परंतु अक्सर देखने में आता है कि
एक सुंदर नाम होते हुए भी
व्यक्ति बहुत ख़राब है
ऐसे में शब्द
ख़तरे में पड़ जाते हैं
उम्र भर के लिए

शब्द बदलते हैं
रंग और कलेवर

जैसे 'जंगल राज' का
जंगल से कोई लेना देना नहीं

और अलसायी हुई ‘सुबह’
ब्रह्ममुहूर्त नहीं
बल्कि बहुत सारी चाय और अख़बार है

‘शिक्षक’ नौकर है -
‘नौकरशाह’ का निज़ाम है

‘माँ-बाप’ पेंशन या ज़िम्मेदारी हैं
‘चिट्ठी’ अब बस सरकारी है
‘फ़ोन’ स्मार्ट है
‘झूठ’ आर्ट है

शब्द बदलते हैं
बदलता है उनका घनत्व
एक ही पानी
बदलता है रूप और तासीर
बदलते तापमान के साथ

रात के अँधेरे में
चुपचाप
शब्द बदल जाते हैं

दिन में चुप रहने वाले
मुखर हो उठते हैं रात में
बहुत सी बातें सुनाई पड़ती हैं
एक ही बात में

प्रोफेसर
सूक्ष्मजीव विज्ञान विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर (म.प्र.)

समाचार

— अनुराग श्रीवास्तव

आज दोस्त का तबादला
हो गया है...
मेहबूबा को पदोन्नति
मिल गई है,
और उसका भी कहीं
जाना लगभग तय ही है।
किसी नवजात बच्ची
को कोई डायन (माँ?) सड़क पर
फेंक जाने की ताजा खबर
मेरे सामने है।
गाँव से अम्मी का कहना है
— इस बार की पैदावार
कम है और
दादी बीमार।
अब्बा को ऋण से
मुक्ति दिला दी है
सरकार ने।
दोस्त की नई कविता
छपी है पुराने पते के साथ।
बेटा अब स्वस्थ है और
अब्बल नम्बर लेकर आया है।
कहीं से कोई अप्रिय
समाचार नहीं।
फिर भी नजाने
उदास क्यों है मेरा मन।
शायद मैं नाराज हूँ
इस समाज से
इस व्यवस्था से
अपने आसपास के
इन समाचारों से।

सहायक पुस्तकालयाध्यक्ष
जवाहरलाल नेहरू पुस्तकालय
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

उम्मीद के सहारे

– ऋतु यादव

उम्मीद के सहारे का दामन
पकड़े है हर शख्स हर आँगन
कभी नरम धूप की है, चाहत
तो कभी कठोर शीत से है आहत
मेघों के मौसम में वर्षा की आस
हर वक्त रहती है, उम्मीद के साथ
हर मौसम अपनी राय से गुजर जाता है,
ढ़ेरों यादों का अहसास करा जाता है,
ज़िंदगी भी चलती है ऐसे ही सहारों से
रंगीन और हसीन सपनों के सायों से
बढ़ते रहते है, यह आस के दामन
वक्त की नब्ज में उम्मीद के साथ
ज़िंदगी की राहों में यादों का सफ़र
दे जाता है नये मोड हर पग हर डगर
चलना ही तो काम है ज़िंदगी का
मंजिलों को पाने में साथ है उम्मीदों का
मिलेगी मंजिले और चलता रहेगा कॉरवा
पर न टूटेगा उम्मीदों का सुखद अहसास
जिंदगी के रंगो में आगे बढने के साथ
अँधेरे जाते हैं चिरागों के साथ
उम्मीद आती है हर उजाले के साथ
हाथ बढ़ा और हौसला रख उम्मीद का
अपने इरादों को अपने से गुज़रने दें
उम्मीद के सहारों से ये जीवन चलने दें
उम्मीद के सहारे से ये जीवन चलने दें।

सहायक प्रोफेसर
रसायन शास्त्र विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

राज

— राजकुमार पाल

कितने खुश थे तुम
और तुम्हारा परिवार
एक ओर बच्चों की
थी कोमल, मृदु मुस्कान
दूसरी ओर भाभीजी का
रंग-विरंगी, लाजबाव पकवान।
सिर पर न कोई बोझ
न कोई कर्ज
था अगर कुछ तो
परिवार के मुखिया का फर्ज।
फिर क्यों तुम अचानक
चांदनी रात के
दूसरे प्रहर में
अकेले, चुपचाप उठकर
दर्दनाक रस्सी साथ ले
चल पड़े खेतों की ओर।
अपने को पेड़ की
टहनियों से लटकाकर
चल दिए दूर
सारे बंधन तोड़ कर
परिवार जनों को छोड़ कर।
काश, राज हमें बता देते
लोगों को हम

आज जवाब दे पाते
दोस्त होने के नाते
अपना फर्ज़ तो निभा पाते।
अब लगता है ऐसा कि
भाभीजी भी हमें
देख रही हैं
शक की नज़र से।
राज जान पाने की चाह में,
पूछ बैठती हैं बीच-बीच में,
''क्या वे परेशान थे
किसी बात से?''
मगर हम विवश उन्हें
कुछ नहीं कह पाते,
उनके शक में
बेवजह पंख जोड़ते जाते
काश, हमें राज बता देते।

सहायक कुलसचिव
क्रय एवं भण्डार अनुभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर (म.प्र.)

कविताएँ

– अशोक सैनी

बोझ डिग्रियों का है सिर पर

मीठा वादों का जहर।
पीना गली गली शहर।।
आज की महँगाई देखो
तोड़ दी सबकी कमर।
बोझ डिग्रियों का सिर पर,
लेकर फिरते हैं दर-बदर।
कानून को वे क्या समझे,
जिनके पास है दौलत घर।
देख लो दंगो का असर,
अस्थियों के नाच रहे पंजर।

वक्त के साथ में ढलो

सूर्य की तरह चलो।
और अंधेरों को छलो।।
सूर्य नहीं बन सकते,
दीप की तरह जलो।
फूल मिल जायेंगे ही,
पहले कांटो पे चलो।
सफल हो जाओगे तुम,
वक्त के साथ में ढलो।
जड़ को मजबूत करो,
और फिर फूलो-फलो।।

प्रवर श्रेणी लिपिक – प्रथम
वित्त एवं लेखा शाखा
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

ग़ज़ल

— 'अकबर' सागरी

इस हसीं चाँद से चेहरे को छिपाते क्यूँ हो
परदा करना है तो फिर सामने आते क्यूँ हो

खुद ही मिट जाऊँगा तुम मुझको भुला दोगे तो
नाम लिख-लिख के हथेली पै मिटाते क्यूँ हो

बात माथे की लक़ीरों में पिरोकर कहिये
ग़ैर के हाथ से पैग़ाम भिजाते क्यूँ हो

मुझसे दौलत की मुहब्बत में तमन्ना रखकर
आप एहसास ग़रीबी का दिलाते क्यूँ हो

ऐसे चुप भी ना रहो अय मिरे जाने जाँना
पास रहकर भी मिरे मुझको सताते क्यूँ हो

तुम तो रहबर हो मंजिल का पता देते हो
साथ 'अकबर' का है तो हाथ छुड़ाते क्यूँ हो

सूक्ष्मजीव विज्ञान विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर (म.प्र.)

नयी कहानी-नयी ज़िन्दगी

— अभिषेक जैन

बच्चे जब से बड़े हुए, मेरी छांव में कोई खेलता नहीं
बूढ़े से दरख़्त की, अजीब सी शिकायत है।
कहानियाँ बंद है, पोटलियों में, कोई अब सुनता नहीं
नन्हें हाथों को, मशीनों की बुरी सोहबत है।
बारिशों में नहाया नहीं, चाँद के साथ सोया नहीं कई दिनों से
गाँव में आँगन अकेला है, उसे मेरी जरूरत है।
थक गया हूँ, भागता फिरता हूँ, भीड़ में शहर की
माँ की गोद में जाकर सोऊँगा, थपकियों की वहाँ बड़ी हरमत है।
मंदिरों में, मस्ज़िदों में, मजारों में गिरिजाघरों में
सबके अपने-अपने खुदा हैं, सबकी अपनी-अपनी इबादत है।
चलो बादलों के करीब चलते हैं, रहने आसमां में
दुनियाँ में नफरत बहुत है, सरहदों की सियासत है।

चिकित्सा अधिकारी
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर (म.प्र.)

दो कविताएँ

– अभिषेक सक्सेना

1

बोलो

तुम्हारे कांधे पे
रखकर सिर
खिड़की से देखना
दुनिया को
आते-जाते
सर्द शामों में
उंगलियों की सलाई से
बुनना ख्वाब
और
एक हिस्सा
तुम्हारी तन्हा रातों का
बोलो !
क्या कुछ ज्यादा मांग लिया ?

2

सब कुछ ठीक ना हो

सब कुछ ठीक है
एक पहचानी-सी महक
काँच और चीनी मिट्टी की खनक
के साथ आती है
एक नई सुबह
दीपक की ज्योति को
आँखों और
धूपबत्ती के धुँए को बैग में
संजोकर निकलता हूँ
दफ्तर की ओर
तयशुदा वक्त पर
सज़ जाता है दस्तख्वान
दूध-आटा, दाल-सब्जी की
चर्चा में कट जाती है शाम
अभी सब कुछ ठीक है
काश! कभी ऐसा हो कि
सब कुछ ठीक ना हो
ऊबकर दुनिया से
हम-तुम बैठे पास
करें बस अपनी बात।

हिन्दी अनुवादक
राजभाषा प्रकोष्ठ
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर (म.प्र.)

सर झुकाता हूँ मैं

— विनोद स्वर्णकार 'नमकीन'

देवता कोई भी हो
सर झुकाता हूँ मैं।
अपनी ही इस आदत से
खुद को विवश पाता हूँ मैं।
राह में अपना कोई जब
नहीं बन पाता है।
तो पथ के पत्थर को भी
महादेव बनाता हूँ मैं।

स्वास्थ्य एवं स्वच्छता विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर (म.प्र.)

बनरा

— महेश प्रसाद कुर्मी

अरे मोरे डॉ. गौर विद्‍वान,
जगत में जाहर हो गये रे।
जगत में जाहर हो गये रे,
हमें आगे पढ़ने की कै गये रे।।

हमें आगे बढ़ने की कै गये रे,
हमें विद्या मंदिर दे गये रे।
हमें आगे राह दिखा गये रे,
हमें आगे राह दिखा गरे रे।।

अरे मोरे डॉ. गौर विद्‍वान,
जगत में जाहर हो गये रे।।

प्रयोगशाला परिचालक
भैषजिक विज्ञान विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर (म.प्र.)

राजभाषा प्रकोष्ठ : कदम दर कदम

– विनोद रजक

विश्वविद्यालय में भारत सरकार की राजभाषा नीतियों का अनुपालन सुनिश्चित कराने हेतु बनाए गए, राजभाषा प्रकोष्ठ में हिन्दी अधिकारी, हिन्दी अनुवादक एवं हिन्दी टंकक पदस्थ हैं। वर्ष 2016-17 के दौरान राजभाषा प्रकोष्ठ की प्रमुख गतिविधियाँ निम्नलिखित हैं :

कार्यशाला का आयोजन एवं प्रशिक्षण सामग्री तैयार करना :

विभिन्न विभागों/अनुभागों में हिन्दी के प्रगामी प्रयोग को बढ़ावा देने के उद्देश्य से राजभाषा प्रकोष्ठ, प्रत्येक तिमाही में कम-से-कम एक हिन्दी कार्यशाला का आयोजन करता है। इस वित्तीय वर्ष में दिनांक 26 मई, 2016 को 'राजभाषा हिन्दी और उसका कार्यान्वयन', दिनांक 09 सितम्बर, 2016 को 'कार्यालयीन पत्रचार के विविध स्वरूप', दिनांक 29 दिसम्बर, 2016 को 'प्रशासनिक हिन्दी' तथा दिनांक 16 मार्च, 2017 को 'प्रशासनिक हिन्दी एवं आंतरिक पत्रचार' विषयों पर कार्यशालाएँ आयोजित की गईं। इन कार्यशालाओं में विषय प्रवर्तक के रूप में विश्वविद्यालय के भाषाविज्ञान विभाग की अध्यक्षा प्रो. चंदा बैन, हिन्दी विभाग के असिस्टेण्ट प्रोफेसर डॉ. विवेकानंद उपाध्याय, आंतरिक लेखापरीक्षा अधिकारी श्री दीपक शाक्य, नगर राजभाषा कार्यान्वयन समिति, सागर के सदस्य-सचिव एवं सेण्ट्रल बैंक ऑफ इण्डिया के राजभाषा अधिकारी श्री महेन्द्र जैन, सहायक पुस्तकालयाध्यक्ष डॉ. अनुराग श्रीवास्तव एवं डॉ. मुकेश साहू आदि उपस्थित रहे। इस वर्ष इन कार्यशालाओं के माध्यम से चरणबद्ध तरीके से विश्वविद्यालय के विभिन्न विभागों/अनुभागों में कार्यरत लगभग 45 कर्मचारियों को हिन्दी में कार्य करने के लिए प्रशिक्षित किया गया। इनमें अवर श्रेणी लिपिक, प्रवर श्रेणी लिपिक, सूचीकार, तकनीशियन, प्रोफेशनल असिस्टेण्ट आदि सम्मिलित हैं। इन कार्यशालाओं के लिए प्रशिक्षण सामग्री राजभाषा प्रकोष्ठ ही तैयार करता है।

हिन्दी के प्रगामी प्रयोग की तिमाही रिपोर्ट :

राजभाषा विभाग, गृह मंत्रालय, भारत सरकार के निर्देशों के तारतम्य में विश्वविद्यालय में हिन्दी के प्रगामी प्रयोग से संबंधित तिमाही प्रगति रिपोर्ट (प्रत्येक वित्तीय वर्ष में 04) गृह मंत्रालय को ऑनलाइन प्रेषित की गईं।

विश्वविद्यालयीन राजभाषा कार्यान्वयन समिति :

राजभाषा विभाग, गृह मंत्रालय, भारत सरकार द्वारा समय-समय पर जारी आदेशों/ निर्देशों का अनुपालन सुनिश्चित कराने के उद्देश्य से गठित विश्वविद्यालयीन राजभाषा कार्यान्वयन समिति की तिमाही बैठकों का आयोजन किया जाता है। इस वित्तीय वर्ष में तीन बैठकें दिनांक 10.06.2016, 13.12.2016 एवं 20.03.2017 को विश्वविद्यालय के प्रशासनिक भवन में स्थित समिति कक्ष में आयोजित की गईं। इन बैठकों में कार्यालयीन कामकाज में हिन्दी के प्रयोग को बढ़ावा देने के उद्देश्य से लिए गए निर्णयों पर भी समुचित अनुवर्ती कार्रवाई की गई।

हिन्दी दिवस समारोह 2016 :

हिन्दी दिवस का आयोजन राजभाषा प्रकोष्ठ की महत्त्वपूर्ण गतिविधियों में से एक है। इस वर्ष राजभाषा के वार्षिक अनुष्ठान 'हिन्दी दिवस' को विशेष हर्षोल्लास के साथ मनाया गया। इस दो दिवसीय समारोह में कर्मचारियों हेतु प्रतियोगिताओं, कविता पाठ एवं व्याख्यान का आयोजन किया गया।

(1) **प्रतियोगिताओं का आयोजन :** हिन्दी दिवस समारोह, 2016 के तहत दिनांक 09 सितम्बर, 2016 को कर्मचारियों हेतु हिन्दी टंकण प्रतियोगिता तथा हिन्दी निबंध लेखन प्रतियोगिता का आयोजन किया गया। इन प्रतियोगिताओं के विजेताओं को क्रमशः रु. 1500/-, रु. 1000/- एवं रु. 500/-के प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय पुरस्कार प्रदान किए। इन प्रतियोगिताओं में परीक्षक का दायित्व निर्वहन भाषा अध्ययनशाला के अधिष्ठाता प्रो. आनंद प्रकाश त्रिपाठी एवं विश्वविद्यालय की परीक्षाफल निष्पादन इकाई के प्रभारी डॉ. के.के. राव ने किया।

(2) **मुख्य समारोह :** दिनांक 14 सितम्बर, 2016 को हिन्दी दिवस के मुख्य कार्यक्रम में मुख्य अतिथि साहित्य अकादमी पुरस्कार-2014 से सम्मानित वरिष्ठ लेखक, उपन्यासकार एवं कवि पद्मश्री रमेशचंद्र शाह जी थे। कार्यक्रम में पद्मश्री रमेशचंद्र शाह जी सहित विश्वविद्यालय के शिक्षकों, अधिकारियों एवं कर्मचारियों ने काव्य पाठ किया। कार्यक्रम को विश्वविद्यालय के वरिष्ठतम प्रोफेसर प्रो. एस.पी. व्यास जी, प्रभारी कुलसचिव प्रो. जे.डी. आही एवं हिन्दी विभाग की अध्यक्षा प्रो. चंदा बैन ने भी सम्बोधित किया। कार्यक्रम में अधिकारियों, शिक्षकों, कर्मचारियों एवं छात्र-छात्राओं ने बढ़-चढ़ कर हिस्सा लिया।

वार्षिक गृह राजभाषा पत्रिका भाषा भारती(ISSN 2321–5704) के चतुर्थ अंक का प्रकाशन :

विश्वविद्यालय के कर्मचारियों, शिक्षकों एवं अधिकारियों के बीच हिन्दी के प्रगामी प्रयोग को बढ़ावा देने के उद्देश्य से प्रकाशित की जाने वाली वार्षिक गृह राजभाषा पत्रिका 'भाषा भारती' के चतुर्थ अंक का प्रकाशन किया गया। इस पत्रिका का विमोचन विश्वविद्यालयीन राजभाषा कार्यान्वयन समिति की बैठक में माननीय कुलपति प्रो. आर.पी. तिवारी एवं प्रभारी कुलसचिव प्रो. निवेदिता मैत्रा द्वारा किया गया। इस अवसर पर विश्वविद्यालय के कुलानुशासक प्रो. ए.पी. दुबे, छात्र कल्याण अधिष्ठाता प्रो. पी.पी. सिंह एवं अध्ययनशालाओं के अधिष्ठाता एवं अन्य अधिकारीगण उपस्थित थे।

राजभाषा पदक :

विश्वविद्यालय की कार्य परिषद के अनुमोदन से इस वर्ष वित्तीय वर्ष 2015-16 में विश्वविद्यालय के कार्यालयीन कामकाज में राजभाषा हिन्दी के उत्कृष्ट प्रयोग करने वाले तीन कर्मचारियों को गौर जयंती(26 नवंबर, 2016) के अवसर पर राजभाषा पदक एवं नकद पुरस्कार प्रदान किए गए।

अनुवाद कार्य :

विश्वविद्यालय की वार्षिक लेखा रिर्पोट(2015-16) एवं प्रवेश विवरणिका(2016-17) का अनुवाद, आठवें वार्षिक प्रतिवेदन(2015-16) में कार्यालयीन प्रतिवेदनों का अनुवाद तथा वेटिंग एवं द्विभाषीकरण प्रक्रिया में सहयोग किया गया। विश्वविद्यालय द्वारा जारी की जाने वाली विभिन्न प्रेस विज्ञप्तियों, निविदा सूचनाओं आदि तथा विश्वविद्यालय के अध्यादेश का अनुवाद किया गया। कार्यालय के विभिन्न अनुभागों द्वारा वांछित विभिन्न प्रपत्रों एवं कार्यालयीन साहित्य का अनुवाद किया गया। कार्यालय में प्रचलित विभिन्न प्रपत्रों एवं अन्य आवश्यक दस्तावेजों का द्विभाषीकरण किया गया। राजभाषा प्रकोष्ठ राजभाषा अधिनियम 1963 की धारा 3(3) के अनुपालन के लिए भी सतत प्रयासरत है।

अन्य कार्य :

1. नगर राजभाषा कार्यान्वयन समिति, सागर की बैठकों में विश्वविद्यालय के प्रतिनिधि के रूप में हिस्सा लिया।
2. विश्वविद्यालय के केन्द्रीय कार्यालय के दोनों प्रवेश द्वारों पर 'आज का विचार' तथा 'आज का शब्द' उपलब्ध कराया।

हिन्दी टंकक
राजभाषा प्रकोष्ठ
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर (म.प्र.)